

## Chapter दो

## हृदय में भगवान्

श्री-शुक उवाच  
 एवं पुरा धारणयात्म-योनि-  
 नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।  
 तथा ससर्जेदममोघ-दृष्टि-  
 र्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसाय-बुद्धिः ॥ १ ॥

## शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; पुरा—विश्व के प्राकट्य के पूर्व; धारणया—ऐसी धारणा द्वारा; आत्म-योनिः—ब्रह्माजी की; नष्टाम्—विनष्ट; स्मृतिम्—स्मृति, याददाश्त; प्रत्यवरुध्य—पुनः चेतना प्राप्त करके; तुष्टात्—भगवान् को प्रसन्न करने के कारण; तथा—तत्पश्चात्; ससर्ज—सृजन किया; इदम्—यह भौतिक जगत; अमोघ-दृष्टिः—जिसे स्पष्ट दृष्टि प्राप्त है; यथा—जिस प्रकार; अप्ययात्—निर्मित किया; प्राक्—पहले की तरह; व्यवसाय—सुनिश्चित; बुद्धिः—बुद्धि।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस ब्रह्माण्ड के प्राकट्य के पूर्व, ब्रह्माजी ने विराट रूप के ध्यान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करके विलुप्त हो चुकी अपनी चेतना प्राप्त की। इस तरह वे सृष्टि का पूर्ववत् पुनर्निर्माण कर सके।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्माजी की विस्मृति का उदाहरण दिया गया है। ब्रह्माजी भगवान् के भौतिक गुणों में से एक गुण के अवतार हैं। वे प्रकृति के रजोगुण के अवतार होने के कारण भगवान् द्वारा सुन्दर भौतिक सृष्टि की रचना करने के लिए शक्तिप्रदत्त हैं। तो भी असंख्य जीवों में से एक होने के नाते, वे अपनी सृजनात्मक शक्ति की कला को भूल जाते हैं। जीव की यह विस्मृति, जो ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक पाई जाती है, ऐसी प्रवृत्ति है, जिसका शमन भगवान् के विराट-रूप के ध्यान द्वारा किया जा सकता है। यह अवसर मनुष्य योनि में प्राप्त होता है और यदि मनुष्य श्रीमद्भगवत् के आदेश का पालन करके, विराट-रूप का ध्यान करना प्रारम्भ कर देता है, तो उसकी शुद्ध चेतना का पुनः उदय हो सकता है तथा साथ ही भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध की विस्मृति का निराकरण हो जाता है। ज्योंही यह विस्मृति दूर हो जाती है त्योंही व्यवसायबुद्धि आ जाती है, जिसका यहाँ पर और भगवद्गीता (२.४१) में भी उल्लेख हुआ है। जीव के इस सुनिश्चित ज्ञान से भगवान् की प्रेमाभक्ति उत्पन्न होती है, जिसकी जीव को आवश्यकता होती है। ईश्वर का साम्राज्य असीम है, अतएव भगवान्

के सहायक हाथों की संख्या भी अनन्त है। *भगवद्गीता* (१३.१४) बल देकर कहती है कि भगवान् की सृष्टि के कोने-कोने में उनके हाथ, पाँव, मुँह तथा आँखें हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव कहलाने वाले भगवान् के अंश ही उनके सहायक हाथ हैं और ये सब विशेष प्रकार की भगवत्सेवा के निमित्त हैं। बद्धजीव, चाहे वह ब्रह्मा के पद पर ही क्यों न हो, मिथ्या अहंकार से उत्पन्न बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से इसे भूल जाता है। ऐसे मिथ्या अहंकार का निराकरण मनुष्य ईश-चेतना प्राप्त करके कर सकता है। मुक्ति का अर्थ है विस्मृति की निद्रा से निकल कर बाहर आना और भगवान् की असली प्रेमा-भक्ति को प्राप्त होना, जैसाकि ब्रह्मा के उदाहरण से स्पष्ट है। ब्रह्मा द्वारा की गई सेवा मुक्तावस्था में की जानेवाली सेवा का नमूना है और यह तथाकथित परोपकार से भिन्न है, जो त्रुटियों तथा विस्मृतियों से पूर्ण होता है। मुक्ति कभी भी निष्क्रियता नहीं है, अपितु यह मानवीय त्रुटियों से विहीन सेवा है।

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था

यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थः ।

परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्

मायामये वासनया शयानः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शाब्दस्य—वैदिक ध्वनि का; हि—निश्चय ही; ब्रह्मणः—वेदों का; एषः—ये; पन्थाः—मार्ग; यत्—जो है; नामभिः—विभिन्न नामों से; ध्यायति—ध्यान करता है; धीः—बुद्धि; अपार्थः—व्यर्थ के विचारों से; परिभ्रमन्—घूमते हुए; तत्र—वहाँ; न—कभी नहीं; विन्दते—भोग करता है; अर्थान्—वास्तविकताओं को; माया-मये—मोहमयी वस्तुओं में; वासनया—विभिन्न इच्छाओं से; शयानः—मानो निद्रा में स्वप्न देख रहा हो।

वैदिक ध्वनियों (वेदवाणी) को प्रस्तुत करने की विधि इतनी मोहनेवाली है कि यह व्यक्तियों की बुद्धि को स्वर्ग जैसी व्यर्थ की वस्तुओं की ओर ले जाती है। बद्धजीव ऐसी स्वर्गिक मायामयी वासनाओं के स्वप्नों में मँडराते रहते हैं, लेकिन उन्हें ऐसे स्थानों में सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती।

तात्पर्य : बद्धजीव संसार के भीतर ब्रह्माण्ड की सीमा तक भी, सुख के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में सदैव व्यस्त रहता है। यहाँ तक कि इस धरा पर, जहाँ वह अपनी सामर्थ्य भर प्रकृति के संसाधनों का दोहन करता है, उपलब्ध समस्त सुविधाओं से तृप्त नहीं होता। वह चन्द्रमा या

शुक्रलोक में भी संसाधनों के दोहन के लिए जाना चाहता है, लेकिन भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.१६) में इस ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों तथा अन्य लोकों की व्यर्थता के विषय में हमें आगाह किया है। ब्रह्माण्डों की संख्या असंख्य है और इनमें से प्रत्येक में असंख्य लोक हैं। लेकिन इनमें से कोई भी लोक भौतिक जीवन के मुख्य दुखों से, यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों से, विहीन नहीं है। भगवान् का कहना है कि सर्वोच्चलोक, ब्रह्मलोक अथवा सत्यलोक भी (स्वर्गलोक जैसे लोकों का तो कहना ही क्या) रहने के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ भी उपर्युक्त दुख पाये जाते हैं। बद्धजीव सकाम कर्म के नियमों से जकड़े हुए हैं। अतएव वे कभी ब्रह्मलोक जाते हैं, तो पुनः पाताल लोक को लौट आते हैं मानो झूले पर चढ़े हुए अज्ञानी बालक हों। असली सुख तो भगवद्धाम में है जहाँ जीव को ये सांसारिक कष्ट नहीं सहन करने होते। अतएव जीवों के लिए सकाम कर्म की वैदिक विधियाँ भ्रामक हैं। मनुष्य इस देश में या अन्यत्र, इस लोक में या दूसरे लोक में, श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना करता है, किन्तु संसार में कहीं भी उसकी असली इच्छा की पूर्ति—सच्चिदानन्द रूप जीवन की पूर्ति—नहीं हो पाती। श्रील शुकदेव गोस्वामी अप्रत्यक्ष रूप से, महाराज परीक्षित को यह बताना चाहते हैं कि जीवन की अन्तिम अवस्था में उन्हें अपने मन में स्वर्गलोक जाने की इच्छा नहीं लानी चाहिए, अपितु उन्हें भगवद्धाम जाने की तैयारी करनी चाहिए। न तो कोई भौतिक लोक शाश्वत है, न वहाँ पर उपलब्ध जीवन की सुविधाएँ ही शाश्वत हैं। अतएव उनसे प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख को भोगने के लिए वास्तविक विरक्ति ही दिखलानी चाहिए।

अतः कविर्नामसु यावदर्थः

स्यादप्रमत्तो व्यवसाय-बुद्धिः ।

सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र

परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अतः—इस कारण; कविः—प्रबुद्ध व्यक्ति; नामसु—केवल नाम के लिए; यावत्—न्यूनतम; अर्थः—आवश्यकता; स्यात्—होए; अप्रमत्तः—उनके पीछे पागल हुए बिना; व्यवसाय-बुद्धिः—बुद्धिपूर्वक स्थित; सिद्धे—सफलता के लिए; अन्यथा—अन्यथा; अर्थे—के हित में; न—कभी नहीं; यतेत—प्रयास करे; तत्र—वहाँ; परिश्रमम्—कठोर श्रम; तत्र—वहाँ; समीक्षमाणः—व्यावहारिक दृष्टि से देखनेवाला।

अतएव प्रबुद्ध व्यक्ति को उपाधियों वाले इस जगत में रहते हुए जीवन की न्यूनतम

आवश्यकताओं के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसे बुद्धिमत्तापूर्वक स्थिर रहना चाहिए और अवांछित वस्तुओं के लिए कभी कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह इससे व्यावहारिक रूप में यह अनुभव करने में सक्षम होता है कि ऐसे सारे प्रयास कठोर श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते।

**तात्पर्य :** भागवत धर्म या श्रीमद्भागवत की विचारधारा सकाम कर्म के मार्ग से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि भक्त ऐसे सकाम कर्मों के मार्ग को समय का अपव्यय मात्र मानते हैं। सारा ब्रह्माण्ड, या यों कहें कि सारा भौतिक जगत, गतिशील है ताकि योजना बनाने के लिए मनुष्य की स्थिति अत्यन्त आरामदेह या सुरक्षित बनी रहे, यद्यपि सभी लोग देखते हैं कि यह संसार न तो आरामदेह है, न सुरक्षित है और विकास की किसी अवस्था में ऐसा हो भी नहीं सकता। जो लोग भौतिक सभ्यता की भ्रामक प्रगति से मोहित हैं, वे निश्चय ही पागल (प्रमत्त) हैं। यह सारी भौतिक सृष्टि केवल नामों की जादूगरी है। वास्तव में यह पृथ्वी, जल, अग्नि जैसे पदार्थों से बनी मोहनेवाली सृष्टि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इमारतें, साज-सामान, कारें, बँगले, मिलें, फैक्टरियाँ, उद्योग, शान्ति, युद्ध या परमाणु शक्ति तथा इलेक्ट्रानिक जैसी भौतिक विज्ञान की सर्वोच्च सिद्धियाँ, भौतिक तत्त्वों तथा तीनों गुणों की मिली-जुली प्रतिक्रिया के मोहक नाम के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। चूँकि भगवान् का भक्त इन्हें पूरी तरह जानता रहता है, अतएव वह उन अवास्तविक वस्तुओं को सृजित करने में रुचि नहीं लेता जो समुद्री तरंगों के बुदबुदों के समान नगण्य हैं। बड़े-बड़े राजा, नेता तथा सैनिक एक दूसरे से इसलिए लड़ते हैं जिससे इतिहास में उनके नाम अक्षुण्ण बने रहें, किन्तु वे कालक्रम में भुला दिये जाते हैं और वे इतिहास में एक दूसरे युग को स्थान दे देते हैं। लेकिन भक्त समझता है कि इतिहास तथा ऐतिहासिक व्यक्ति किस तरह क्षणभंगुर समय की उपज हैं। सकाम कर्मों को सम्पत्ति, स्त्री तथा भौतिक मान-सम्मान की चाह होती है, किन्तु जिन्हें वास्तविकता का ज्ञान है वे ऐसी मिथ्या वस्तुओं में तनिक भी रुचि नहीं रखते। उनके लिए यह समय का अपव्यय है। चूँकि मनुष्य-जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है, अतएव प्रबुद्ध व्यक्ति को समय का उपयोग करने में काफी सतर्क रहना चाहिए। इस जगत में सुख की योजना बनाने की शोध में विनष्ट मानव-जीवन का एक पल भी कभी वापस नहीं मिल सकता,

भले ही कोई उसके लिए लाखों स्वर्ण मुद्राएँ क्यों न खर्च करे। अतएव ऐसा अध्यात्मवादी जो माया के चंगुल से छूटना चाहता है, उसे सचेत किया जाता है कि वह सकाम कर्मियों के बाह्य स्वरूप से मोहित न हो। मनुष्य जीवन कभी भी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं बना है, वह तो आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है। *श्रीमद्भागवत* में आदि से अन्त तक इसी विषय का उपदेश मिलता है। मानव-जीवन मात्र आत्म-साक्षात्कार के लिए है। जो सभ्यता इस सर्वाधिक पूर्णता को लक्ष्य बनाती है, वह अवांछित वस्तुओं में लिप्त नहीं होती और ऐसी पूर्ण सभ्यता मनुष्यों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ स्वीकार करने के लिए या बुरे सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करने के सिद्धान्त का पालन करने के लिए तैयार करती है। उस दृष्टि से हमारे भौतिक शरीर तथा हमारे जीवन बुरे सौदे हैं, क्योंकि जीव वास्तव में आत्मा है और जीव की आध्यात्मिक प्रगति अत्यावश्यक है। मानव-जीवन इसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है, अतएव मनुष्य को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वीकार करके भगवान् के उपहार पर आश्रित रहते हुए मानवीय शक्ति को अन्य किसी कार्य में यथा भौतिक भोग के पीछे दीवाना होने में न लगाकर तदनुसार कर्म करना चाहिए। सभ्यता का भौतिकतावादी विकास असुरों की सभ्यता कहलाता है, जिसका अन्त युद्ध तथा अभाव में होता है। यहाँ पर अध्यात्मवादी को मन से स्थिर होने के लिए कहा गया है, जिससे यदि 'सादा जीवन उच्च विचार' में कठिनाई का अनुभव भी हो तो वह अपने दृढ़ संकल्प से रंचमात्र भी नहीं डिगे। विश्व के इन्द्रियतृप्तिकर्ताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आना अध्यात्मवादी के लिए आत्मघात है, क्योंकि इस नीति से जीवन का चरम लक्ष्य ही विफल हो जायेगा। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से तब मिले जब महाराज को ऐसी भेंट की आवश्यकता थी। अध्यात्मवादी का कर्तव्य है कि असली मुक्तिकामी व्यक्तियों की सहायता करे और मुक्ति के उद्देश्य को सहयोग दे। ध्यान रहे कि शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से तब कभी नहीं मिले जब वे महान् राजा के रूप में शासन कर रहे थे। अध्यात्मवादी के लिए कार्य-प्रणाली की विवेचना अगले श्लोक में की गई है।

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-

बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।

सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्न-पात्र्या

दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सत्याम्—अधिकार में करके; क्षितौ—पृथ्वी का खंड; किम्—क्या आवश्यकता है; कशिपोः—खाट तथा गहों की; प्रयासैः—प्रयास करने से; बाहौ—बाँह के; स्व-सिद्धे—आत्म-निर्भर होने के लिए; हि—निश्चय ही; उपबर्हणैः—गद्दा तथा तकिया से; किम्—क्या लाभ है; सति—उपस्थित होकर; अञ्जलौ—हथेली में; किम्—क्या लाभ है; पुरुधा—व्यंजन, किस्में; अन्न—खाद्य पदार्थों के; पात्र्या—बर्तनों से; दिक्—खुला स्थान; वल्कल-आदौ—वृक्षों की छाल; सति—होने से; किम्—क्या लाभ है; दुकूलैः—वस्त्रों से।

जब लेटने के लिए विपुल भूखंड पड़े हैं, तो चारपाइयों तथा गहों की क्या आवश्यकता है?

जब मनुष्य अपनी बाँह का उपयोग कर सकता है, तो फिर तकिये की क्या आवश्यकता है? जब

मनुष्य अपनी हथेलियों का उपयोग कर सकता है, तो तरह-तरह के बर्तनों की क्या आवश्यकता

है? जब पर्याप्त ओढ़न अथवा वृक्ष की छाल उपलब्ध हो, तो फिर वस्त्र की क्या आवश्यकता

है?

तात्पर्य : शरीर की रक्षा तथा सुविधा के लिए व्यर्थ ही जीवन की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ा लेनी चाहिए। ऐसे ही भ्रामक सुख की खोज में मानवशक्ति व्यर्थ नष्ट होती है। यदि मनुष्य फर्श पर लेट सकता है, तो फिर वह लेटने के लिए मुलायम गद्दा पाने के लिए क्यों प्रयत्नशील रहता है? यदि वह बिना तकिये के ही प्रकृति द्वारा प्रदत्त अपनी मुलायम बाहों का उपयोग कर सकता है, तो फिर तकिये की खोज करना व्यर्थ है। यदि हम पशुओं के सामान्य जीवन का अध्ययन करें तो देखेंगे कि उनमें बड़े-बड़े घर, फर्नीचर तथा घर के अन्य साज-सामान बनाने की बुद्धि नहीं है, फिर भी वे खुली भूमि में लेटकर स्वस्थ जीवन बिताते हैं। वे भोजन पकाना नहीं जानते, फिर भी वे मनुष्य की अपेक्षा अधिक सरलता से स्वस्थ जीवन बिताते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मानव सभ्यता पलट कर पशु-जीवन बिताने लगे या कि मनुष्य नंगा होकर जंगलों में विचरण करने लगे और संस्कृति, शिक्षा तथा नैतिकता की विचारधारा से विहीन हो जाय। बुद्धिमान मनुष्य कभी पशु-जीवन नहीं बिता सकता, अपितु मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि का उपयोग कला तथा विज्ञान, कविता तथा दर्शन में करे। इस प्रकार वह मानवीय सभ्यता को आगे बढ़ा सकता है। किन्तु यहाँ पर श्रील शुकदेव गोस्वामी ने जो विचार प्रदान किया है, वह यह है कि मानव-जीवन की आरक्षित शक्ति, जो पशुओं से अधिक

श्रेष्ठ है, उसका उपयोग मात्र आत्म-साक्षात्कार के लिए ही किया जाना चाहिए। मानव सभ्यता की प्रगति ईश्वर के प्रति खोये सम्बन्धों की पुनःस्थापना की ओर लक्षित होनी चाहिए, जो मनुष्य जीवन के अतिरिक्त अन्य किसी योनि में सम्भव नहीं है। मनुष्य को भौतिक परिवर्तनशीलता की निरर्थकता का बोध होना चाहिए, इसे मृगमरीचिका सा मानना चाहिए और जीवन के कष्टों का समाधान खोज निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। सुधरी पशु-सभ्यता से युक्त आत्म-तृप्ति, जिसका लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति हो, भ्रम है और ऐसी सभ्यता कहलाने योग्य नहीं है। ऐसे मिथ्या कर्म करने वाला जीव माया-मोहित है। प्राचीनकाल के सन्त तथा महात्मा कभी अच्छे फर्नीचर से सज्जित एवं तथाकथित जीवन की सुविधाओं से युक्त राजप्रसादों में नहीं रहते थे। वे कुटियों तथा कुंजों में रहा करते थे, भूमि पर बैठते थे; फिर भी वे अपने पीछे उच्च ज्ञान की महान् निधि छोड़ गये हैं। श्रील रूप गोस्वामी तथा श्रील सनातन गोस्वामी राज्य के उच्च-पदासीन मन्त्री थे, लेकिन वे अपने पीछे दिव्य ज्ञान-विषयक प्रभूत ग्रंथ छोड़ गये हैं जबकि वे किसी भी वृक्ष के नीचे केवल एक रात टिकते थे। वे किसी एक वृक्ष के नीचे कभी दो रात भी नहीं रहे, आधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित कमरों की बात तो कोसों दूर रही! तो भी उन्होंने हमें अत्यन्त उपादेय आत्म-साक्षात्कार का साहित्य दिया है। प्रगतिशील सभ्यता के लिए तथाकथित जीवन की सुविधाएँ सहायक नहीं बनतीं, अपितु वे ऐसे प्रगतिशील जीवन में बाधक हैं। चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली सनातन-धर्म पद्धति में प्रगतिशील जीवन के सुखमय अन्त के लिए पर्याप्त आदेश हैं और उसमें निष्ठावान अनुयायियों को जीवन का वांछित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से संन्यास आश्रम स्वीकार करना होता है। यदि कोई प्रारम्भ से ऐसे संन्यासी तथा आत्मोत्सर्ग जीवन का पालन करने का अभ्यस्त नहीं होता, तो उसे बाद के जीवन में इसका अभ्यास करना चाहिए जैसाकि श्रील शुकदेव गोस्वामी ने संस्तुति की है। इससे वांछित सफलता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां

नैवाङ्घ्रिपाः पर-भृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।

रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्

कस्माद् भजन्ति कवयो धन-दुर्मदान्धान् ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

चीराणि—फटे-पुराने कपड़े; किम्—क्या; पथि—मार्ग में; न—नहीं; सन्ति—हैं; दिशन्ति—दान देते हैं; भिक्षाम्—भिक्षा; न—नहीं; एव—भी; अङ्घ्रिपाः—वृक्ष; पर-भृतः—अन्यों का पालन करने वाली; सरितः—नदियाँ; अपि—भी; अशुष्यन्—सूख गई हैं; रुद्धाः—बन्द; गुहाः—गुफाएँ; किम्—क्या; अजितः—भगवान्; अवति—सुरक्षा प्रदान करता है; न—नहीं; उपसन्नान्—शरणागतों को; कस्मात्—तब, किसलिए; भजन्ति—चापलूसी करते हैं; कवयः—विद्वान्; धन—सम्पत्ति; दुर्मदान्—अन्धान्—अत्यन्त मतवालों को।

क्या सड़कों पर चिथड़े नहीं पड़े हैं? क्या दूसरों का पालन करनेवाले वृक्ष अब दान में भिक्षा नहीं देते? क्या सूख जाने पर नदियाँ अब प्यासे को जल प्रदान नहीं करती? क्या अब पर्वतों की गुफाएँ बन्द हो चुकी हैं? या सर्व-शक्तिमान भगवान् पूर्ण शरणागत आत्माओं की रक्षा नहीं करते? तो फिर विद्वान् मुनिजन उनकी चापलूसी क्यों करते हैं, जो अपनी गाढ़ी कमाई की सम्पत्ति के कारण प्रमत्त हो गये हैं?

तात्पर्य : संन्यास कभी भिक्षा माँगने या परजीवी बनकर दूसरों पर निर्भर रह कर जीवित रहने के लिए नहीं है। शब्दकोश के अनुसार परजीवी वह है, जो समाज को किसी प्रकार का योगदान किये बिना, समाज के खर्च पर ही जीवित रहता है। संन्यास आश्रम समाज को महत्त्वपूर्ण योगदान करने के लिए है न कि गृहस्थों की कमाई पर आश्रित रहने के लिए। इसके विपरीत, प्रामाणिक संन्यासियों द्वारा गृहस्थों से भिक्षा लेना दाता के लाभ हेतु सन्तों द्वारा प्रदत्त सुअवसर होता है। सनातन-धर्म प्रथा में संन्यासी को भिक्षा देना गृहस्थ का कर्तव्य होता है और शास्त्रों का आदेश है कि वे संन्यासियों को अपने परिवार के बालक जैसा मानें और बिना माँगे भोजन, वस्त्र आदि प्रदान करें। इसलिए छद्म संन्यासियों को श्रद्धालु गृहस्थों की दानवृत्ति का अनुचित लाभ नहीं लेना चाहिए। संन्यास आश्रम के प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह मनुष्यों के लाभ के लिए कोई साहित्यिक कृति प्रदान करे जिससे उन्हें आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति की दिशा प्राप्त हो सके। श्रील सनातन, श्रील रूप तथा वृन्दावन के अन्य गोस्वामियों के संन्यास-काल में अन्य कर्तव्यों में सर्वप्रधान कर्तव्य था वृन्दावन के सेवाकुंज में पारस्परिक विद्वत्तापूर्ण वाद-विवाद (गोष्ठी)। (इस स्थान पर श्री राधा दामोदर मन्दिर की स्थापना श्रील जीव गोस्वामी ने की तथा श्रील रूप गोस्वामी एवं श्रील जीव गोस्वामी की समाधियाँ भी



यहीं स्थित हैं।) वे मानव-समाज के लाभ हेतु दिव्य महत्ता वाला प्रचुर साहित्य अपने पीछे छोड़ गये। इसी प्रकार समस्त आचार्यों ने, जिन्होंने स्वेच्छा से संन्यास आश्रम ग्रहण किया, मानव-समाज को लाभ पहुँचाना ही अपना लक्ष्य बनाया, न कि सुखपूर्ण गैरजिम्मेदार जीवन व्यतीत करके अन्यो के ऊपर भारस्वरूप बनकर रहना। किन्तु जो संन्यासी कोई योगदान नहीं कर पाते, उन्हें चाहिए कि भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ न जाँय, क्योंकि ऐसे साधुओं द्वारा गृहस्थों से भोजन की भीख माँगना इस सर्वोच्च आश्रम का अपमान करना है। शुकदेव गोस्वामी ने यह चेतावनी विशेष रूप से उन साधुओं को दी है, जो अपनी आर्थिक समस्या हल करने के लिए इस वृत्ति को अपनाते हैं। कलियुग में ऐसे संन्यासियों की बहुलता है। जब कोई मनुष्य स्वेच्छा से या परिस्थितिवश संन्यासी बन जाता है, तो उसमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि परमेश्वर संसार में सर्वत्र समस्त जीवों के पालनकर्ता हैं। तो भला वह क्योंकर अपने उस शरणागत की उपेक्षा करेगा जो शत प्रतिशत उसकी सेवा में लगा रहता है? एक सामान्य मालिक अपने नौकर की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है, तो फिर सर्वशक्तिमान सर्व-ऐश्वर्यवान परमेश्वर अपने पूर्ण शरणागत जीव के जीवन की आवश्यकताओं की न जाने कितनी परवाह करता होगा? सामान्य नियम है कि संन्यासी भक्त किसी से माँगे बिना एक छोटा सा साधारण कौपीन धारण करे। वह इसे सड़क में पड़े चिथड़ों से प्राप्त कर लेता है। जब वह भूखा हो तो वह किसी उदार वृक्ष के पास जाये जो उसे फल देगा और जब उसे प्यास लगे तो वह बहती नदी से जल पी ले। उसे आरामदेह घर में रहने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसे चाहिए कि पर्वत की गुफा खोज ले और जंगली पशुओं से भयभीत न हो। उसे ईश्वर में विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वे सबों के हृदय में वास करनेवाले हैं। भगवान् व्याघ्रों तथा अन्य जंगली जानवरों को आदेश दे सकते हैं कि वे उनके भक्त को विचलित न करें। भगवान् श्री चैतन्य के परम भक्त हरिदास ठाकुर एक ऐसी ही गुफा में रहा करते थे और संयोगवश एक विषधर सर्प भी उसी गुफा में रहता था। ठाकुर हरिदास का कोई प्रशंसक, जो नित्य ही उनको देखने जाता था, सर्प से भयभीत था और उसने यह सलाह दी कि ठाकुर उस स्थान को छोड़ दें। चूँकि उनके भक्त सर्प से भयभीत थे और वे नियमित रूप से उस गुफा में आते थे, अतएव ठाकुर हरिदास ने उनका प्रस्ताव मान लिया। किन्तु ज्योंही ऐसा हुआ तो साँप उस गुफा के बिल से

बाहर निकल आया और सबों की उपस्थिति में उसने उस स्थान को सदा के लिए छोड़ दिया। अपने हृदय में वास करनेवाले भगवान् के आदेश से साँप ने हरिदास को वरीयता प्रदान करते हुए उस स्थान को छोड़ने का और उन्हें विचलित न करने का निश्चय किया। अतएव यह ऐसा ज्वलन्त उदाहरण है, जिससे पता चलता है कि भगवान् किस प्रकार ठाकुर हरिदास जैसे प्रामाणिक भक्त को सुरक्षा प्रदान करते हैं। *सनातन-धर्म* के विधानों के अनुसार, मनुष्य को प्रारम्भ से सभी परस्थितियों में भगवान् की सुरक्षा पर पूरी तरह निर्भर रहना सिखाया जाता है। संन्यास का मार्ग उन्हीं के लिए ग्रहणीय बताया गया, जो पूर्ण रूप से सिद्ध तथा पवित्र हों। *भगवद्गीता* (१६.५) में भी इस अवस्था का वर्णन दैवी-सम्पत् के रूप में हुआ है। मनुष्य को दैवी सम्पत् अर्थात् आध्यात्मिक सम्पत्ति संग्रह करने की आवश्यकता है, अन्यथा इसकी वैकल्पिक सम्पत्ति *आसुरी-सम्पत्*, उसे बुरी तरह पराजित कर देगी और उसे बाध्य होकर संसार के विभिन्न कष्टों के बन्धन में पड़ना होगा। संन्यासी को सदा अकेला रहना चाहिए और निर्भीक होना चाहिए। मनुष्य को कभी अकेले रहने से नहीं डरना चाहिए, यद्यपि वह कभी अकेला होता नहीं। भगवान् सबों के हृदय में वास करते हैं और जब तक मनुष्य मान्य विधि द्वारा शुद्ध नहीं हो लेता, तब तक उसे अकेलेपन का अनुभव होता रहेगा। किन्तु संन्यास आश्रम वाले मनुष्य को विधिपूर्वक शुद्ध होना चाहिए, इस तरह उसे सर्वत्र भगवान् की उपस्थिति का अनुभव होगा और उसे किसी का भय नहीं रह जायेगा (भले ही उसके साथ कोई न रहे)। प्रत्येक व्यक्ति निर्भय तथा ईमानदार बन सकता है यदि वह प्रत्येक आश्रम के नियत कर्तव्य का पालन करे। मनुष्य वैदिक आदेशों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करके तथा भगवान् की भक्ति द्वारा वैदिक ज्ञान के सार को आत्मसात् करके अपने नियत कर्तव्यों में स्थिर हो सकता है।

एवं स्व-चित्ते स्वत एव सिद्ध

आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।

तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत

संसार-हेतूपरमश्च यत्र ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व-चित्ते—अपने हृदय में; स्वतः—उनकी सर्वशक्तिमत्ता से; एव—निश्चय ही; सिद्धः—पूरी तरह प्रस्तुत;  
आत्मा—परमात्मा; प्रियः—अत्यन्त प्रिय; अर्थः—वस्तु; भगवान्—भगवान्; अनन्तः—नित्य असीम, अनन्त; तम्—उसको;

निर्वृतः—संसार से विरक्त होकर; नियत—स्थायी; अर्थः—परम लाभ; भजेत—पूजा करे; संसार-हेतु—संसार की बद्ध अवस्था का कारण; उपरमः—समाप्ति; च—निश्चय ही; यत्र—जिसमें।

मनुष्य को इस प्रकार स्थिर होकर, उनकी ( भगवान की ) सर्वशक्तिमत्ता के कारण अपने हृदय में स्थित परमात्मा की सेवा करनी चाहिए। चूँकि वे सर्वशक्तिमान, भगवान् नित्य एवं असीम हैं, अतएव वे जीवन के चरम लक्ष्य हैं और उनकी पूजा करके मनुष्य बद्ध जीवन के कारण को दूर कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में पुष्टि की गई है, भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी परमात्मा हैं। अतएव जो योगी है, वह केवल उन्हीं की पूजा कर सकता है, क्योंकि वे कोई भ्रम नहीं, अपितु एक तथ्य हैं। प्रत्येक जीव किसी न किसी की सेवा में लगा हुआ है। जीव की स्वाभाविक स्थिति सेवा करने की है, किन्तु माया के वातावरण में या अस्तित्व की बद्धावस्था में बद्धजीव भ्रम की ही सेवा करने की सोचता है। बद्धजीव अपने नश्वर शरीर, अपने शारीरिक सम्बन्धियों जैसे पत्नी तथा बच्चों एवं शरीर तथा शरीर के सम्बन्धों यथा घर, भूमि, सम्पत्ति, समाज तथा देश के पालन हेतु, आवश्यक वस्तुओं की सेवा करने में, अपने को लगाता है, लेकिन उसे इसका पता नहीं रहता कि यह सारी सेवा नितान्त भ्रामक है। इसके पूर्व हम कई बार बता चुके हैं कि यह भौतिक जगत स्वयं ही भ्रम है—मरुस्थल की मृगमरीचिका के समान है। मरुस्थल में जल का भ्रम होता है और मूर्ख पशु ऐसे भ्रम का शिकार होकर मरुस्थल में पानी के लिए दौड़ लगाते हैं, यद्यपि वहाँ पानी का नाममात्र भी नहीं होता। लेकिन चूँकि मरुस्थल में जल नहीं रहता, अतएव कोई यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि वहाँ पर कहीं भी जल नहीं है। बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि जल तो है, लेकिन महासागरों में है, किन्तु ऐसे विशाल जलागार मरुस्थल से बहुत दूर होते हैं। अतएव मनुष्य को जल की खोज समुद्र के निकट करनी चाहिए न कि रेगिस्तान में। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन के असली सुख अर्थात् नित्य जीवन, नित्य या असीम ज्ञान तथा अमर आनन्दमय जीवन की खोज में लगा हुआ है। किन्तु जिस मूर्ख व्यक्ति को असलियत का ज्ञान नहीं है, वह जीवन के सत्य को भ्रम में ढूँढता है। यह भौतिक शरीर कभी शाश्वत नहीं होता और इस क्षणिक शरीर से सम्बद्ध सारी वस्तुएँ—यथा पत्नी, बच्चे, समाज तथा देश भी, शरीर के बदलने के साथ-साथ बदलते रहते हैं। यही संसार अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का

पुनरावर्तन कहलाता है। हम जीवन की इन सारी समस्याओं का हल ढूँढ़ना तो चाहते हैं, लेकिन हमें वह रास्ता ज्ञात नहीं है। यहाँ पर यह सुझाव है कि जो भी जीवन के इन क्लेशों—यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के पुनरावर्तन से छुटकारा पाना चाहता है उसे भगवान् की ही पूजा करनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६५) में भी सुझाव दिया गया है। यदि हम सचमुच अपने बद्धजीवन का अन्त चाहते हैं, तो हमें भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए जो अपने अंश-रूप समस्त जीवों पर सहज स्नेह के कारण प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं ( *भगवद्गीता* १८.६१)। स्वाभाविक है कि माता की गोद का बालक अपनी माता से आसक्त रहे और माता भी बालक से आसक्त रहती है। किन्तु जब बालक बड़ा हो जाता है और परिस्थितियों से घिर जाता है, तो वह क्रमशः माता से विलग होता जाता है, यद्यपि माता चाहती रहती है कि बालक कुछ न कुछ सेवा करे। स्वयं भी वह उस बालक के प्रति समान रूप से वत्सल रहती है, किन्तु बालक का भूलने का स्वभाव होता है। इसी प्रकार चूँकि हम भगवान् के अंश हैं, भगवान् हम पर सदैव वत्सल रहते हैं और चाहते रहते हैं कि हम उनके धाम वापस जाँय। किन्तु हम ऐसे बद्धजीव हैं कि उनकी परवाह नहीं करते और भ्रामक शारीरिक बन्धनों के पीछे दौड़ते रहते हैं। अतएव हमें चाहिए कि संसार के सारे भ्रामक बन्धनों को तोड़ दें और भगवान् की सेवा करके, उनसे पुनः मिलने का प्रयत्न करें, क्योंकि वे ही परम सत्य हैं। वास्तव में हम उनके लिए वैसे ही लालायित रहते हैं जिस तरह बालक माता को ढूँढ़ता रहता है। भगवान् को ढूँढ़ने के लिए हमें कहीं दूर नहीं जाना है, क्योंकि वे तो हमारे हृदयों में विद्यमान हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम पूजास्थलों पर यथा मन्दिरों, गिरजाघरों तथा मस्जिदों में न जाँय। पूजा के ये पवित्र स्थल भी भगवान् से युक्त होते हैं, क्योंकि भगवान् तो सर्वव्यापी हैं। सामान्य व्यक्ति के लिये ये पवित्र स्थान ईश-विज्ञान सिखने के केन्द्र हैं। जब मन्दिर कर्मशून्य हो जाते हैं, तो लोगों की रुचि ऐसे स्थानों में नहीं रह जाती जिससे सामान्य जनता धीरे-धीरे ईश्वरविहीन हो जाती है और ईश्वरविहीन सभ्यता का उदय होता है। ऐसी नारकीय सभ्यता से जीवन की समस्याओं में कृत्रिम तौर पर बढ़ोत्तरी होती है और लोगों का जीवन दूभर हो जाता है। ऐसी ईश्वरविहीन सभ्यता के मूर्ख कर्णधार भौतिकतावाद के पैटेंट ट्रेडमार्क के अन्तर्गत ईश्वरविहीन जगत में शान्ति तथा समृद्धि लाने की

विविध योजनाएँ बनाते हैं। चूँकि ऐसे प्रयास भ्रामक ही होते हैं, अतएव लोग एक-एक करके अयोग्य अंधे नेताओं को चुनते हैं, जो किसी भी तरह का समाधान प्रस्तुत करने में अक्षम रहते हैं। यदि हम ईश्वरविहीन सभ्यता की इस असंगति को दूर करना चाहते हैं, तो हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों के नियमों का पालन करना चाहिए और श्री शुकदेव गोस्वामी जैसे व्यक्ति के आदेश का पालन करना चाहिए जिन्हें भौतिक लाभ का कोई आकर्षण नहीं था।

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-

मृते पशूनसतीं नाम कुर्यात् ।

पश्यञ्जनं पतितं वैतरण्यां

स्व-कर्मजान् परितापाञ्जुषाणम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; ताम्—उसको; तु—लेकिन; अनादृत्य—उपेक्षा करके; पर-अनुचिन्ताम्—दिव्य विचार; ऋते—बिना;  
पशून्—भौतिकतावादी; असतीम्—क्षण-भंगुर; नाम—नाम को; कुर्यात्—स्वीकार करेगा; पश्यन्—निश्चित रूप से देखते हुए;  
जनम्—जनता, सामान्यजन; पतितम्—पतित; वैतरण्याम्—दुखों की नदी वैतरणी में; स्व-कर्म-जान्—अपने कर्मों से उत्पन्न;  
परितापान्—दुखों को; जुषाणम्—आक्रान्त।

निपट भौतिकतावादी के अतिरिक्त कौन ऐसा होगा जो यह देखकर कि जन-सामान्य अपने कर्मों से मिलने वाले फलों के कारण क्लेशों की नदी में गिरे हुए हैं, ऐसे विचार की उपेक्षा करे और केवल क्षणभंगुर नामों को ग्रहण करे?

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि जो लोग भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं के प्रति आसक्त रहते हैं, वे उन पशुओं के तुल्य हैं, जो ऐसे व्यक्ति का अनुसरण करते रहते हैं, जो उन्हें कसाई घर की ओर ले जा रहा हो। पशुओं की तरह ये भौतिकतावादी भी यह नहीं जानते कि वे परम पुरुष के दिव्य विचार की उपेक्षा के कारण कुमार्ग पर जा रहे हैं। कोई विचारशून्य नहीं रह सकता। कहा गया है कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है, क्योंकि जो व्यक्ति सही दिशा में नहीं सोच सकता, वह ऐसे विषय में सोचेगा जिससे विपत्ति आ खड़ी हो। भौतिकतावादी लोग नित्य ही किन्हीं छोटे-मोटे देवताओं की पूजा करते रहते हैं, यद्यपि *भगवद्गीता* (७.२०) में इसकी भर्त्सना की गई है। जब तक मनुष्य भौतिक लाभ के द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है, तब तक वह उन-उन देवताओं से किसी न किसी विशेष लाभ की याचना करता रहता है, जो अन्ततोगत्वा भ्रामक तथा क्षणभंगुर होते हैं। किन्तु प्रबुद्ध

अध्यात्मवादी कभी ऐसी भ्रामक वस्तुओं से मोहित नहीं होता। अतएव वह परमेश्वर के साक्षात्कार की विभिन्न अवस्थाओं में—यथा ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के विचार में—लीन रहता है। पिछले श्लोक में यह सुझाया गया है कि मनुष्य को परमात्मा के विषय में चिन्तन करना चाहिए जो ब्रह्म के निराकार विचार से एक पग आगे है, जिस प्रकार कि भगवान् के विराट-रूप के विषय में सुझाया गया था।

बुद्धिमान व्यक्ति उन जीवों की सामान्य दशाओं को ठीक से देख सकते हैं, जो चौरासी लाख योनियों में तथा मनुष्यों की विभिन्न प्रजातियों में भटकते रहते हैं। कहा जाता है कि यमराज के लोक के द्वार पर वैतरणी नामक निरन्तर प्रवाहित रहनेवाली नदी है। यमराज पापियों को विभिन्न प्रकार से दण्ड देते हैं। ऐसी यातना देने के बाद पाप करनेवाले को उसके पूर्व-कर्मों के अनुसार कोई जीव योनि प्रदान की जाती है। यमराज द्वारा दण्डित ऐसे जीव बद्धजीवन की विभिन्न योनियों में देखे जाते हैं। इनमें से कुछ स्वर्ग में रहते हैं, तो कुछ नरक में रहते हैं। इनमें से कुछ ब्राह्मण होते हैं, तो कुछ कंजूस। किन्तु इनमें से कोई भी इस संसार में सुखी नहीं रहता। वे सभी प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणी के कैदी बनकर अपने-अपने कर्मों के कारण कष्ट भोगते हैं। भगवान् जीवों के कष्टों की समस्त परिस्थितियों के प्रति निरपेक्ष बने रहते हैं, किन्तु जो उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें वे समुचित सुरक्षा प्रदान करते हैं और ऐसे जीवों को अपने धाम वापस ले जाते हैं।

केचित् स्व-देहान्तर्हृदयावकाशे

प्रादेश-मात्रं पुरुषं वसन्तम् ।

चतुर्भुजं कञ्ज-रथाङ्ग-शङ्ख--

गदा-धरं धारणया स्मरन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केचित्—अन्य लोग; स्व-देह-अन्तः—अपने शरीर के भीतर; हृदय-अवकाशे—हृदय-प्रदेश में; प्रादेश-मात्रम्—एक बित्ता (लगभग आठ इंच); पुरुषम्—भगवान् को; वसन्तम्—वास करते हुए; चतुः-भुजम्—चार हाथों वाले; कञ्ज—कमल; रथ-अङ्ग—रथ का चक्र (पहिया); शङ्ख—शंख; गदा-धरम्—तथा हाथ में गदा लिए; धारणया—इस प्रकार की धारणा से; स्मरन्ति—उनका स्मरण करते हैं।

अन्य लोग शरीर के हृदय प्रदेश में वास करनेवाले एवं केवल एक बित्ता परिमाण के, चार हाथोंवाले तथा उनमें से प्रत्येक में क्रमशः कमल, रथ का चक्र, शंख तथा गदा धारण किये हुए भगवान् का ध्यान करते हैं।

**तात्पर्य :** सर्वव्यापी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा रूप में वास करते हैं। अन्तर्यामी परमात्मा का परिमाण बीच की अंगुली से अंगूठे तक, अर्थात् एक बित्ता या आठ इंच माना जाता है। इस श्लोक में वर्णित भगवान् का रूप विभिन्न प्रतीकों से युक्त—दाहिने हाथ के निचले भाग से बाएँ हाथ के निचले भाग में क्रमशः कमल, चक्र, शंख तथा गदा धारण किये हुए हैं—जनार्दन कहलाता है, जिसका अर्थ है जन-सामान्य को वश में रखनेवाला भगवान् का अंश। इसी प्रकार कमल, शंख आदि प्रतीकों से युक्त भगवान् के अनेक अन्य रूप हैं और वे पुरुषोत्तम, अच्युत, नरसिंह, त्रिविक्रम, हृषीकेश, केशव, माधव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, हरि, पद्मनाभ, वामन, मधुसूदन, गोविन्द, कृष्ण, विष्णुमूर्ति, अधोक्षज तथा उपेन्द्र नामों से जाने जाते हैं। अन्तर्यामी भगवान् के ये चौबीस रूप विभिन्न लोकों में पूजे जाते हैं और प्रत्येक लोक में भगवान् का एक अवतार होता है, जिसका परव्योम में एक वैकुण्ठ लोक है, जिसमें भगवान् का अवतार होता है। इनके अतिरिक्त भी भगवान् के सैकड़ों हजारों रूप हैं और इनमें से प्रत्येक का परव्योम में विशिष्ट लोक होता है, जिनमें से यह भौतिक आकाश एक खंडमात्र है। भगवान् पुरुष के रूप में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इस भौतिक जगत के पुरुष से उनकी कोई तुलना नहीं की जा सकती, लेकिन ऐसे सारे रूप एक दूसरे से अभिन्न-अद्वैत होते हैं और इनमें से प्रत्येक रूप नित्य तरुण होता है। चतुर्भुजी तरुण भगवान् सुंदर ढंग से अलंकृत रहते हैं, जैसाकि नीचे वर्णन किया गया है।

**प्रसन्न-वक्त्रं नलिनायतेक्षणं**

**कदम्ब-किञ्जल्क-पिशङ्ग-वाससम् ।**

**लसन्महा-रत्न-हिरण्मयाङ्गदं**

**स्फुरन्महा-रत्न-किरीट-कुण्डलम् ॥ ९ ॥**

**शब्दार्थ**

प्रसन्न—प्रसन्नता सूचित करता; वक्त्रम्—मुख; नलिन-आयत—कमल की पंखड़ियों के समान फैली; ईक्षणम्—आँखें; कदम्ब—कदम्ब पुष्प; किञ्जल्क—केसर; पिशङ्ग—पीला; वाससम्—वस्त्र; लसत्—लटकता हुआ; महा-रत्न—बहुमूल्य रत्न; हिरण्मय—स्वर्ण निर्मित; अङ्गदम्—आभूषण; स्फुरत्—चमकता; महा-रत्न—मूल्यवान् रत्न; किरीट—मुकुट; कुण्डलम्—कान के कुण्डल।

उनका मुख उनकी प्रसन्नता को व्यक्त करता है। उनकी आँखें कमल की पंखड़ियों के समान हैं और उनका वस्त्र कदम्ब पुष्प के केसर के समान पीले रंग का तथा बहुमूल्य रत्नों से जटित है।

उनके सारे आभूषण स्वर्ण से निर्मित तथा रत्नों से जटित हैं। वे चमकीला मुकुट तथा कुण्डल धारण किये हुए हैं।

उन्निद्र-हृत्पङ्कज-कर्णिकालये  
योगेश्वरास्थापित-पाद-पल्लवम् ।  
श्री-लक्षणं कौस्तुभ-रत्न-कन्धर-  
मल्लान-लक्ष्म्या वन-मालयाचितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उन्निद्र—खिले हुए; हृत्—हृदय; पङ्कज—कमल का फूल; कर्णिका—आलये—पुष्पगुच्छ की सतह पर; योग-ईश्वर—महान् योगी; आस्थापित—रखा हुआ; पाद-पल्लवम्—चरणकमल; श्री—लक्ष्मी या सुन्दर बछड़ा; लक्षणम्—इस प्रकार के चिह्न से युक्त; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; रत्न—अन्य रत्न; कन्धरम्—कन्धे पर; अम्लान—ताजा; लक्ष्म्या—सौन्दर्य; वन-मालया—पुष्पहार से; आचितम्—फैला हुआ।

उनके चरण-कमल महान् योगियों के कमल-सदृश हृदयों के गुच्छों के ऊपर रखे हैं। उनके वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि है, जिसमें सुन्दर बछड़ा अंकित है और उनके कंधों पर अनेक रत्न हैं। उनका पूर्ण स्कंध-प्रदेश ताजे फूलों की माला से सज्जित है।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर के आभूषण पुष्प, वस्त्र तथा अन्य सारे अलंकरण भगवान् के शरीर से अभिन्न हैं। इनमें से कुछ भी भौतिक अवयवों से नहीं बना है, अन्यथा वह भगवान् के शरीर को अलंकृत नहीं कर सकता था। इसी तरह परव्योम में आध्यात्मिक किस्मों को भौतिक विविधता से पृथक् किया जाता है।

विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-  
महा-धनैर्नूपुर-कङ्कणादिभिः ।  
स्निग्धामलाकुञ्चित-नील-कुन्तलै-  
र्विरोचमानानन-हास-पेशलम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विभूषितम्—सुसज्जित; मेखलया—करधनी से; अङ्गुलीयकैः—अङ्गुलियों से; महा-धनैः—अत्यन्त मूल्यवान्; नूपुर—पायल; कङ्कण-आदिभिः—कंकण आदि से; स्निग्ध—चिकना; अमल—निष्कलंक; आकुञ्चित—घुँघराले; नील—नीले रंग के; कुन्तलैः—बालों से; विरोचमान—अत्यन्त सुहावना; आनन—मुख; हास—मुस्कान; पेशलम्—सुन्दर।

उनकी कमर अलंकृत करधनी से सुशोभित है और उनकी अङ्गुलियों में बहुमूल्य रत्नों से जटित अङ्गुठियाँ हैं। उनके नूपुर, उनके कंकण, उनके घुँघराले नीले रंग के चिकने बाल तथा



उनका सुन्दर मुस्कान-युक्त मुख—ये सभी अत्यन्त लुभावने हैं।

तात्पर्य : भगवान् सर्वाधिक सुन्दर पुरुष हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी उनके अंग-प्रत्यंग के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन निर्विशेषवादियों को यह पाठ पढ़ाने के लिए करते हैं कि भगवान् पूजा की सुविधा के लिए भक्त की कोरी कल्पना नहीं हैं, अपितु यथार्थ में और स्वरूप से परम पुरुष हैं। परम सत्य का निराकार स्वरूप उनका विकिरण मात्र है, जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य के विकिरण हैं।

अदीन-लीला-हसितेक्षणोल्लसद्-

भू-भङ्ग-संसूचित-भूर्यनुग्रहम् ।

ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं

यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अदीन—अत्यन्त उदार, दैन्यरहित; लीला—लीलाएँ; हसित—हास; ईक्षण—चितवन से; उल्लसत्—चमकता; भू-भङ्ग—भौहों का बाँकपन; संसूचित—सूचित; भूरि—विशाल; अनुग्रहम्—वर, कृपा; ईक्षेत—एकाग्र करे; चिन्तामयम्—दिव्य; एनम्—इस विशेष; ईश्वरम्—परमेश्वर को; यावत्—जब तक; मनः—मन; धारणया—ध्यान से; अवतिष्ठते—स्थिर किया जा सकता है।

भगवान् की भव्य लीलाएँ तथा उनके हास्यमय मुख की उल्लासमयी चितवन उनके व्यापक वरदानों के संकेत हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि जब तक ध्यान द्वारा उसका मन भगवान् पर स्थिर रखा जा सके, तब तक मन को उनके इसी दिव्य रूप में एकाग्र करे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१२.५) में कहा गया है कि निर्विशेषवादी अपने निराकार ध्यान के कारण अनेक कठिनाइयों से गुजरता है। लेकिन भगवान् की साकार सेवा के कारण भक्त सरलता से प्रगति करता रहता है। अतएव निराकार ध्यान निर्विशेषवादी के लिए कष्ट का कारण है। यहाँ पर भक्त को निर्विशेषवादी चिन्तक की तुलना में एक लाभ है। निर्विशेषवादी भगवान् के साकार रूप के विषय में संशय-युक्त रहता है, अतएव वह सदैव ऐसी वस्तु का ध्यान करने का प्रयास करता है, जो साकार नहीं है। इसी कारण से भागवत में भगवान् के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करने के लिए, प्रामाणिक वक्तव्य दिया गया है।

यहाँ पर ध्यान की जिस विधि का अनुमोदन किया गया है, वह भक्तियोग अर्थात् भौतिक अवस्थाओं से मुक्त होने के बाद की भक्ति विधि है। ज्ञानयोग भौतिक अवस्थाओं से मुक्ति की विधि है। संसार की अवस्थाओं से मुक्त हो लेने के बाद अर्थात् निवृत्त होने पर, जैसाकि पहले कहा जा चुका

है या जब कोई समस्त भौतिक आवश्यकताओं से मुक्त हो जाता है, तो वह भक्तियोग विधि को सम्पन्न करने के योग्य बन जाता है। अतएव भक्तियोग में ज्ञानयोग निहित है, अथवा दूसरे शब्दों में शुद्धभक्ति की विधि एकसाथ ज्ञानयोग का भी काम करती है; शुद्ध भक्ति के क्रमिक विकास से भौतिक दशाओं से स्वतः मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्तियोग के ये प्रभाव *अनर्थ-निवृत्ति* कहलाते हैं। भक्तियोग की प्रगति के साथ-साथ कृत्रिम रूप से अर्जित की गई वस्तुएँ क्रमशः लुप्त होती जाती हैं। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान, जो प्रथम सोपान के रूप में है, *अनर्थ-निवृत्ति* के द्वारा अपना प्रभाव दिखायेगा। अनर्थ का सबसे स्थूल प्रकार, जो बद्धजीव को जगत से बाँधता है, वह कामवासना है और यह कामवासना धीरे-धीरे विकसित होकर नर तथा नारी का मेल कराती है। नर-नारी का मिलाप हो जाने पर घर, बच्चे, मित्र, सम्बन्धी तथा सम्पत्ति के जुट जाने से कामवासना और अधिक बढ़ती है। जब इन सबकी प्राप्ति हो जाती है, तो बद्धजीव इन सारे बन्धनों से अभिभूत हो उठता है और मिथ्या अहंकार भाव, या “मैं” और “मेरा” का भाव प्रधान बन जाता है और कामवासना विविध राजनीतिक, सामाजिक, परोपकारी तथा अन्य अवांछित कार्यकलापों में विस्तारित हो जाती है मानो समुद्री लहरों पर तैरता फेन हो जो कभी तो स्पष्ट दिखता है, किन्तु दूसरे ही क्षण उसी तरह लुप्त हो जाता है, जिस प्रकार आकाश से बादल लुप्त हो जाते हैं। बद्धजीव ऐसी वस्तुओं से तथा कामवासना की वस्तुओं से घिरा रहता है, किन्तु भक्तियोग से कामवासना धीरे-धीरे छूमन्तर हो जाती है, जिसका सारांश लाभ, पूजन तथा ख्याति इन तीन शीर्षकों से दिया गया है। सारे बद्धजीव कामवासना के इन विविध रूपों के पीछे पागल बने रहते हैं और मनुष्य यह स्वयं देख सकता है कि कामवासना पर आधारित ऐसी भौतिक लालसाओं से वह किस हद तक मुक्त हुआ है। जिस प्रकार भोजन के हर कौर खाने से मनुष्य की भूख बुझती जाती है, उसी तरह उसे पता चल सकेगा कि वह कामवासना से किस हद तक मुक्त हुआ है। भक्तियोग की प्रक्रिया से यह कामवासना अपने विविध रूपों सहित घटती जाती है, क्योंकि भक्तियोग से भगवत्कृपा से स्वतः ज्ञान तथा वैराग्य उत्पन्न होता है, भले ही भक्त भौतिक दृष्टि से ठीक से शिक्षित न हो। ज्ञान का अर्थ है वस्तुओं को उनके उसी रूप में जानना और यदि विचार-विमर्श से यह ज्ञात हो जाय कि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जो सर्वथा अनावश्यक हैं, तो यह स्वाभाविक है कि जिसने

ज्ञान अर्जित किया है, वह ऐसी अवांछित वस्तुओं को छोड़ देगा। जब बद्धजीव ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यह देखता है कि भौतिक आवश्यकताएँ अवांछित हैं, तो वह उनसे अपना नाता तोड़ लेता है। ज्ञान की यह अवस्था वैराग्य अर्थात् अवांछित वस्तुओं से विरक्ति कहलाती है। हम इससे पूर्व बता चुके हैं कि अध्यात्मवादी को स्वावलम्बी होना चाहिए और उसे अपने जीवन की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनी अन्धे पुरुषों से भीख नहीं माँगनी चाहिए। शुकदेव गोस्वामी ने जीवन की ऐसी आवश्यकताओं यथा खाने, सोने तथा रहने की समस्याओं के लिए विकल्प सुझाये हैं, लेकिन उन्होंने कामवासना की तुष्टि के लिए कोई विकल्प नहीं सुझाया। जिसके अन्तःकरण में कामवासना तब भी आन्दोलित हो रही हो, उसे संन्यास आश्रम नहीं ग्रहण करना चाहिए। जिसने यह अवस्था नहीं प्राप्त की है, उसके लिए संन्यास आश्रम ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार सही गुरु के मार्गदर्शन में क्रमिक भक्तियोग द्वारा तथा *भागवत* के सिद्धान्तों के अनुसरण द्वारा मनुष्य संन्यास आश्रम ग्रहण करने के पूर्व कम से कम स्थूल काम-वासना को तो वश में कर सकेगा।

इस तरह शुद्धि (परिष्कार) का अर्थ है क्रमशः कामवासना से मुक्त होना और इसकी प्राप्ति यहाँ पर वर्णित विधि द्वारा—भगवान् के चरणों से प्रारम्भ करके उनके ध्यान द्वारा—की जा सकती है। मनुष्य को चाहिए कि पहले वह स्वयं यह देख ले कि कामवासना से वह कितना मुक्त हुआ है, तभी ऊपर उठने (भगवान् के ऊपरी अंगों पर ध्यान) का प्रयत्न करे। *श्रीमद्भागवत* का दशम स्कन्ध भगवान् का हास्यमय मुखमंडल है। ऐसे अनेक नवसिखिये हैं, जो तुरन्त ही दशम स्कन्ध से अध्ययन प्रारम्भ करने लगते हैं और उसमें भी विशेष रूप से वे पाँच अध्याय जिनमें भगवान् की रासलीला का वर्णन है। यह निश्चय ही अनुचित है। *भागवत* के ऐसे अनुचित अध्ययन या श्रवण से भौतिक अवसरवादियों ने *भागवत* के नाम पर विषयी जीवन में लिप्त होकर ऊधम मचा रखा है। *भागवत* को इस तरह लांछित करने का कार्य तथाकथित भक्तों के कार्यों से सम्पन्न हुआ है। इसके पूर्व कि कोई भागवत-वाचन का प्रदर्शन करे, उसे समस्त प्रकार की कामवासनाओं से मुक्त होना चाहिए। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने शुद्धि का अर्थ कामविषयों में निर्लिप्त होना बताया है। वे कहते हैं—*यथा यथा धीश्च शुध्यति विषयलाम्पट्यं त्यजति, तथा तथा धारयेदिति चित्तशुद्धितारतम्येनैव ध्यानतारतम्यमुक्तम्* और ज्योंही कोई

बुद्धि के परिष्कार से कामलिप्सा के नशे से मुक्त हो जाता है तब उसे आगे बढ़कर ध्यान करना चाहिए। अर्थात् दूसरे शब्दों में, भगवान् के दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों के ध्यान को हृदय की शुद्धि के अनुपात से बढ़ाना चाहिए। निष्कर्ष यह निकला कि जो लोग अब भी कामवासना में अनुरक्त होकर फँसे हुए हैं, उन्हें कभी भगवान् के चरणों के ऊपर के अंगों पर ध्यान नहीं करना चाहिए, अतएव उन्हें अपने आपको *श्रीमद्भागवत* के प्रथम दो स्कन्धों का ही पाठ करने तक सीमित कर लेना चाहिए। मनुष्य को पहले प्रथम नौ स्कन्धों की विषयवस्तु को आत्मसात् करके शुद्धि की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिए। तब उसे *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में प्रवेश की अनुमति दी जानी चाहिए।

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्  
पादादि यावद्भसितं गदाभृतः ।  
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्  
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥ १३ ॥

#### शब्दार्थ

एक-एकशः—एक-एक करके, या एक के पश्चात् दूसरा; अङ्गानि—अंगों को; धिया—ध्यान से; अनुभावयेत्—ध्यान करे; पाद-आदि—पाँव इत्यादि; यावत्—जब तक; हसितम्—मुसकान; गदा-भृतः—भगवान्; जितम् जितम्—धीरे-धीरे मन को नियन्त्रित करते हुए; स्थानम्—स्थान को; अपोह्य—छोड़ कर; धारयेत्—ध्यान करे; परम् परम्—उच्च से उच्चतर; शुद्ध्यति—शुद्ध होती है; धीः—बुद्धि; यथा यथा—जितनी ।

ध्यान की प्रक्रिया भगवान् के चरण-कमलों से प्रारंभ करते हुए उसे उनके हँसते मुखमंडल तक ले आये। इस तरह पहले ध्यान को चरण-कमलों पर एकाग्र करे, फिर पिंडलियों पर, तब जाँघों पर और क्रमशः ऊपर की ओर उठता जाये। मन जितना ही एक-एक करके भगवान् के विभिन्न अंगों पर स्थिर होगा, बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में ध्यान की जिस विधि की संस्तुति की गई है, वह किसी विशेष वस्तु या शून्य पर मन को स्थिर करने की नहीं है। ध्यान को तो भगवान् पर एकाग्र करना चाहिए, चाहे वह उनका विराट-रूप अर्थात् विराट विश्व-रूप हो या शास्त्रों में वर्णित उनका सच्चिदानन्द विग्रह रूप। विष्णु रूपों के प्रामाणिक विवरण प्राप्त हैं और मन्दिरों में अर्चा-विग्रह के प्रामाणिक प्रतिरूप हैं। इस प्रकार मनुष्य अर्चा-विग्रह का ध्यान करना प्रारम्भ कर सकता है, जिसमें उसे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर एकाग्र करते हुए क्रमशः ऊपर-ऊपर उठते हुए उनके मुसकाते मुख तक आना चाहिए।

भागवत-विचारधारा के अनुसार भगवान् का रासनृत्य भगवान् का मुसकाता मुखमंडल है। चूँकि इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि मनुष्य भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करता हुआ, मुसकाते मुखमंडल तक क्रमशः ऊपर उठे, अतएव हमें चाहिए कि रासनृत्य में भगवान् की लीलाएँ समझने के लिए हम छलाँग न लगायें। श्रेयस्कर यही होगा कि हम भगवान् के चरणकमलों पर पुष्प तथा तुलसी-दल अर्पित करके अपने ध्यान को एकाग्र करने का अभ्यास करें। इस प्रकार धीरे-धीरे हम अर्चना-विधि से शुद्ध हो जाते हैं। हम भगवान् को वस्त्र पहनाते हैं, उन्हें नहलाते हैं, इत्यादि-इत्यादि, जो सारे के सारे दिव्य कार्यकलाप होते हैं। ये हमें जीवन को शुद्ध बनाने में सहायक होते हैं। जब हम शुद्धि के उच्चतर स्तर तक पहुँच जाते हैं और यदि हम भगवान् का मुसकाता मुखमंडल देखते हैं या भगवान् की रासलीला का श्रवण करते हैं, तो हम उनके कार्यकलापों का रसास्वाद कर सकते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में रासलीला को दशम स्कन्ध में उद्धृत किया गया है (अध्याय २९-३४)।

मनुष्य भगवान् के दिव्य रूप पर चित्त को जितना ही एकाग्र करता है, चाहे वह चरणकमलों पर हो या पिंडलियों या जंघाओं अथवा वक्ष-स्थल पर, वह उतना ही शुद्ध होता जाता है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि, “बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी” जिसका अर्थ है कि मनुष्य इन्द्रियतृप्ति से जितना ही विरक्त होता जाता है बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी। वर्तमान बद्ध अवस्था में हमारी बुद्धि अशुद्ध है, क्योंकि वह इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त लगी हुई रहती है। भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान करने का फल मनुष्य की इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति द्वारा प्रकट होगा, अतएव ध्यान का चरम उद्देश्य अपनी बुद्धि की शुद्धि (परिष्कार) है।

वे लोग, जो इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक लोग रहते हैं, उन्हें अर्चना में सम्मिलित होने या राधा-कृष्ण के दिव्य स्वरूप या विष्णु अर्चा-विग्रहों का स्पर्श करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। उनके लिए यह श्रेयस्कर होगा कि वे भगवान् के विराट-रूप का ध्यान धरें, जैसाकि अगले श्लोक में कहा गया है। अतएव निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों को सलाह दी जाती है कि वे भगवान् के विराट-रूप का ध्यान धरें, किन्तु भक्तों को मन्दिर में अर्चा-विग्रह का ध्यान करने की संस्तुति की जाती है। चूँकि निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी अपने आध्यात्मिक कार्य-कलापों में पर्याप्त शुद्ध नहीं होते, अतएव

अर्चना की विधि उनके निमित्त नहीं है।

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्  
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्ति-योगः ।  
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं  
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ १४ ॥

#### शब्दार्थ

यावत्—जब तक; न—नहीं; जायेत—विकसित होता है; पर—दिव्य; अवरे—संसारी; अस्मिन्—इस रूप में; विश्व—ईश्वरे—समस्त जगत् के स्वामी; द्रष्टरि—देखनेवाले को; भक्ति-योगः—भक्तिमयी सेवा, भक्ति; तवत्—तब तक; स्थवीयः—स्थूल भौतिकतावादी; पुरुषस्य—विराट पुरुष का; रूपम्—विश्वरूप; क्रिया-अवसाने—अपने कर्तव्यों के पूरा होने पर; प्रयतः—सावधानीपूर्वक; स्मरेत—स्मरण करे।

जब तक स्थूल भौतिकतावादी व्यक्ति दिव्य तथा भौतिक दोनों ही जगत् के द्रष्टा परमेश्वर की प्रेमाभक्ति विकसित न कर ले, तब तक उसे अपने कर्तव्यों को पूरा कर लेने के बाद भगवान् के विराट रूप का स्मरण या ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : परमेश्वर सभी जगत् के द्रष्टा हैं, चाहे भौतिक जगत् हो या आध्यात्मिक। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर सभी जगत् के परम भोक्ता हैं, जैसा कि भगवद्गीता (५.२९) में पुष्टि हुई है। आध्यात्मिक जगत् उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है, जबकि भौतिक जगत् उनकी बहिरंगा शक्ति का। सारे जीव भी उनकी तटस्था शक्ति हैं और वे अपनी रुचि के अनुसार भौतिक जगत् या आध्यात्मिक जगत् में रह सकते हैं। यह भौतिक जगत् जीवात्माओं के लिए उपयुक्त वासस्थान नहीं है, क्योंकि सारे जीव आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान् से अभिन्न हैं, किन्तु भौतिक जगत् में सारे जीव भौतिक जगत् के नियमों के द्वारा बद्ध हो जाते हैं। चूँकि सारे जीव उनके अंश-रूप हैं, अतः भगवान् चाहते हैं कि वे सभी उनके साथ आध्यात्मिक जगत् में रहें। भौतिक जगत् में जीवों को प्रबुद्ध करने के लिए सारे वेद तथा शास्त्र उपलब्ध हैं जिनके द्वारा उन्हें विशेष रूप से भगवद्धाम वापस बुलाया जा सकता है। दुर्भाग्यवश, जीव बद्धजीवन के तीन प्रकार के कष्टों को सहता हुआ भी भगवद्धाम जाने के प्रति बहुत गंभीर नहीं रहता। यह उसकी पथभ्रष्ट जीवन-शैली के कारण है, जो पापों तथा पुण्यों के कारण जटिल बन गई है। जीवों में से कुछ जीव, जो पुण्य कर्म करते हैं, भगवान् के साथ अपने भूले हुए सम्बन्ध को पुनः स्थापित करना आरम्भ करते हैं, किन्तु वे भगवान् के साकार रूप को नहीं समझ पाते। जीवन का असली उद्देश्य

भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करना और उनकी सेवा में लग जाना है। यही जीवों की स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु जो निर्विशेषवादी हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति कर पाने में असमर्थ रहते हैं, उन्हें भगवान् के निराकार रूप या विराट-रूप का ध्यान करने की सलाह दी गई है। यदि मनुष्य तनिक भी चाहता है कि जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त हो तथा उसे बंधनहीन सहज अवस्था प्राप्त हो, तो उसे चाहिए कि जिस तरह से भी हो सके भगवान् के साथ अपने विस्मृत सम्बन्धों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करे। कम बुद्धिमान नौसिखियों द्वारा निर्विशेष स्वरूप या विराट स्वरूप का ध्यान क्रमशः उन्हें साकार स्वरूप के सम्पर्क में आने के योग्य बना देगा। यहाँ पर मनुष्य को पिछले अध्यायों में वर्णित विराट-रूप का ध्यान करने की सलाह दी गई है, जिससे वह समझ सके कि किस तरह विभिन्न लोक, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, पक्षी, पशु, मनुष्य, देवता तथा अन्य जो कुछ सोचा जा सकता है, भगवान् के विराट रूप के ही अंग-प्रत्यंग हैं। इस प्रकार का चिन्तन भी एक प्रकार से परम सत्य का ध्यान ही है। ज्योंही ऐसा ध्यान प्रारम्भ हो जाता है, मनुष्य में दैवी गुण आ जाते हैं और सारा संसार समस्त लोगों के लिए एक सुखमय तथा शान्तिमय आवास लगने लगता है। ईश्वर के ऐसे निराकार या साकार रूप के ध्यान के बिना मनुष्य के सारे सद्गुण उसकी अपनी स्वाभाविक स्थिति के विषय में भ्रान्तियों से ढके रहते हैं और ऐसे उच्च ज्ञान के बिना सारा संसार मनुष्य के लिए नरक बन जाता है।

स्थिरं सुखं चासनमास्थितो यति-

यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।

काले च देशे च मनो न सज्जयेत्

प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्थिरम्—स्थिर; सुखम्—आरामदेह; च—भी; आसनम्—बैठने का आसन; आस्थितः—स्थित होकर; यतिः—साधु; यदा—जब भी; जिहासुः—त्यागना चाहता है; इमम्—इसे; अङ्ग—हे राजा; लोकम्—शरीर को; काले—समय में; च—तथा; देशे—उचित स्थान में; च—भी; मनः—मन; न—नहीं; सज्जयेत्—उद्विग्न न हो; प्राणान्—प्राणों को; नियच्छेत्—वश में करे; मनसा—मन से; जित-असुः—प्राणवायु को जीतकर।

हे राजन्, जब भी योगी इस मानव लोक को छोड़ने की इच्छा करे तो वह उचित काल या स्थान की तनिक भी इच्छा न करते हुए, सुविधापूर्वक अविचल भाव से आसन लगा ले और प्राणवायु को नियमित करके मन द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करे।

**तात्पर्य :** भगवद्गीता (८.१४) में स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्णतः निरत रहता है और जो पग-पग पर उन्हीं का निरन्तर स्मरण करता है, वह भगवान् का साक्षात् सान्निध्य प्राप्त करके, आसानी से उन की दया प्राप्त करता है। ऐसे भक्तों को वर्तमान शरीर-त्याग के लिए उपयुक्त समय ढूँढने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जो मिश्रित भक्त हैं और सकाम कर्म या ज्ञान को मिलाए हुए हैं, उन्हें इस शरीर का त्याग करने के लिए उपयुक्त क्षण की अपेक्षा रहती है। उनके लिए ऐसे उपयुक्त क्षणों का उल्लेख भगवद्गीता (८.२३-२६) में हुआ है। लेकिन ये उपयुक्त क्षण उतने महत्वपूर्ण नहीं होते, जितना कि मनुष्य का ऐसा सफल योगी होना जो इच्छानुसार शरीर का त्याग कर सके। ऐसे योगी को मन द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करने में सक्षम होना चाहिए। मन को सहज भाव से भगवान् के चरणकमलों में लगाकर सरलता से जीता जा सकता है। ऐसी सेवा से क्रमशः सारी इन्द्रियाँ स्वतः भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। परम सत्य से तदाकार होने का यही मार्ग है।

**मनः स्व-बुद्ध्यामलया नियम्य**

**क्षेत्र-ज्ञ एतां निनयेत् तमात्मनि ।**

**आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो**

**लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥ १६ ॥**

**शब्दार्थ**

मनः—मन को; स्व-बुद्ध्या—अपनी बुद्धि से; अमलया—विशुद्ध; नियम्य—नियमित करके; क्षेत्र-ज्ञे—जीव को; एताम्—ये सब; निनयेत्—विलीन करे; तम्—उसको; आत्मनि—आत्मा में; आत्मानम्—आत्मा को; आत्मनि—परम आत्मा में; अवरुध्य—बंधकर; धीरः—पूर्ण रूप से तुष्ट; लब्ध-उपशान्तिः—जिसने पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लिया है; विरमेत—विराम लेता है; कृत्यात्—अन्य कृत्यों से।

तत्पश्चात् योगी को चाहिए कि वह अपनी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा अपने मन को जीवात्मा में तदाकार करे और फिर जीवात्मा को परम आत्मा में विलीन कर दे। ऐसा करने के बाद, पूर्णतया तुष्ट जीव, तुष्टि की चरमावस्था को प्राप्त होता है, जिससे वह अन्य सारे कार्यकलाप बन्द कर देता है।

**तात्पर्य :** मन के कार्य हैं—सोचना, अनुभव करना और इच्छा करना। जब मन भौतिकतावादी होता है या भौतिक संसर्ग में लीन रहता है, तो वह ज्ञान की भौतिक उन्नति के लिए कार्य करता है, जिसकी



चरम परिणति नाभिकीय अस्त्रों की खोज में होती है। किन्तु जब मन आध्यात्मिक संवेग के अन्तर्गत कार्य करता है, तो वह जीवन में पूर्ण आनन्द तथा नित्यता के लिए अपने घर अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने के लिए आश्चर्यजनक ढंग से काम करता है। अतएव मन को उत्तम तथा विशुद्ध बुद्धि के द्वारा सुनियोजित किया जाना चाहिए। परि-पूर्ण बुद्धि भगवान् की सेवा करने के निमित्त होती है। मनुष्य को इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि जीव समस्त परिस्थितियों में परिस्थितियों का दास है। प्रत्येक जीव इच्छा, क्रोध, वासना, भ्रम, पागलपन तथा ईर्ष्या के आदेशों के अनुसार सेवा करता है और ये सब की सब भौतिकता से प्रभावित हैं। किन्तु इन समस्त संवेगों के आदेशों का पालन करने हेतु वह निरन्तर दुखी रहता है। जब वह वास्तव में इसका अनुभव करता है और सही स्रोतों से इसकी खोज करने के लिए अपनी बुद्धि दौड़ाता है, तो उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का पता लगता है। तब बुद्धि शरीर के उपर्युक्त रसों की भौतिकता की दृष्टि से सेवा न करके, भौतिकतावादी मनोवृत्ति के दुखद भ्रम से मुक्त हो जाती है और इस प्रकार मन विशुद्ध बुद्धि से भगवान् की सेवा में लग जाता है। भगवान् एवं उनकी सेवा, परम धरातल पर होने के कारण अभिन्न हैं। अतएव अमिश्रित बुद्धि तथा मन भगवान् में तदाकार हो जाते हैं और इस तरह जीव मात्र दृष्टा नहीं रह जाता, अपितु भगवान् के दिव्यगुण द्वारा दृश्य हो उठता है; जब जीव भगवान् द्वारा प्रत्यक्षतः देख लिया जाता है, तो वे अपनी इच्छानुसार जीव को आदेशित करते हैं और जब जीव उनके आदेशों का पूर्णतः पालन करने लगता है, तो जीव अपनी भ्रामक तुष्टि के लिए अन्य कार्य करना बन्द कर देता है। जीव अपनी शुद्ध अवस्था में पूर्ण आनन्द की उपलब्धि—लब्धोपशान्ति—करता है और समस्त भौतिक लालसाओं से निवृत्त हो जाता है।

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः

कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।

न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च

न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जहाँ; कालः—विनाशकारी काल; अनिमिषाम्—देवताओं का; परः—श्रेष्ठ; प्रभुः—नियन्ता; कुतः—कहाँ है; नु—निश्चय ही; देवाः—देवता; जगताम्—संसारी प्राणी; ये—जो; ईशिरे—नियम; न—नहीं; यत्र—जहाँ; सत्त्वम्—संसारी अच्छाई, सतोगुण; न—न तो; रजः—संसारी काम; तमः—संसारी अज्ञान, तमोगुण; च—भी; न—न तो; वै—निश्चय ही; विकारः—रूपान्तर; न—न तो; महान्—भौतिक कारणार्णव; प्रधानम्—भौतिक प्रकृति।

उस लब्धोपशान्ति की दिव्य अवस्था में विनाशकारी काल की श्रेष्ठता नहीं रह पाती, जो उन देवी-देवताओं का भी नियामक है, जिन्हें संसारी प्राणियों के ऊपर शासन करने की शक्ति प्राप्त है। ( तो फिर स्वयं देवताओं के विषय में क्या कहा जाये ? )। इस अवस्था में न तो सतोगुण, रजोगुण या तमोगुण रहते हैं, न ही मिथ्या अहंकार, भौतिक कारणार्णव अथवा न भौतिक प्रकृति ही रह पाती है।

तात्पर्य : विनाशकारी काल, जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में, स्वर्गस्थ देवताओं को भी नियन्त्रित करता है, आध्यात्मिक धरातल पर अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। काल का प्रभाव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के रूप में प्रकट होता है और ये चारों नियम भौतिक ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, ब्रह्मलोक तक जहाँ लोगों की आयु अत्यधिक है, सर्वत्र पाये जाते हैं, । दुर्जेय काल ब्रह्मा तक की मृत्यु का कारण बनता है, तो इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वायु तथा वरुण जैसे अन्य देवताओं के विषय में क्या कहा जाये ? विभिन्न देवताओं द्वारा संसारी प्राणियों पर निक्षिप्त ज्योतिष-प्रभाव भी स्पष्ट रूप से अनुपस्थित रहता है। भौतिक जगत में सारे जीव शैतान से भयभीत रहते हैं, किन्तु दिव्य पद पर स्थित भक्त को ऐसा भय नहीं रहता। सारे जीव प्राकृतिक विभिन्न गुणों के प्रभाव से विभिन्न रूपों तथा आकारों से अपने-अपने भौतिक शरीर बदलते रहते हैं, लेकिन दिव्य स्थिति में भक्त गुणातीत अर्थात् सतो, रजो तथा तमो गुणों से परे होता है। इस प्रकार “मैं जहाँ तक जा सकता हूँ, उसका स्वामी हूँ” यह मिथ्या अहंकार वहाँ नहीं उठ पाता। भौतिक जगत में प्रकृति के ऊपर प्रभुता दिखाने का मिथ्या अहंकार प्रज्वलित अग्नि में पतंगों के गिरने के समान है। पतंगा अग्नि के दीप्तिमान सौन्दर्य पर मोहित होता है, किन्तु जब वह इसका भोग करने चलता है, तो अग्नि उसे जलाकर राख कर देती है। दिव्य स्थिति में जीव की चेतना शुद्ध रहती है, अतएव प्रकृति पर प्रभुता जताने का उसमें मिथ्या अहंकार नहीं रहता प्रत्युत उसकी शुद्ध चेतना उसे परमेश्वर की शरण में जाने के लिए निर्देशित करती है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है— *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*। इससे संकेत मिलता है कि दिव्य स्थिति में न तो भौतिक सृष्टि रहती है, न ही भौतिक प्रकृति के लिए कारणार्णव रहता है।

उपर्युक्त परिस्थिति दिव्य धरातल पर वास्तविक है। किन्तु यह योगी की शुद्ध चेतना की उच्च

अवस्था में प्रकट होती है। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। निर्विशेषवादियों का चरम लक्ष्य रहता है परव्योम की ब्रह्मज्योति, किन्तु भक्तों का लक्ष्य वैकुण्ठ लोक रहता है। भक्तों को उपर्युक्त स्थिति का अनुभव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए सक्रिय होने हेतु दिव्य रूप पा कर होता है। लेकिन निर्विशेषवादी भगवान् की संगति की उपेक्षा करने के कारण आध्यात्मिक सक्रियता के लिए आध्यात्मिक शरीर विकसित नहीं कर पाता, अपितु भगवान् की ब्रह्मज्योति में आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में विलीन हो जाता है। भगवान् पूर्णतः सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, जबकि निर्विशेष ब्रह्मज्योति केवल सत् तथा चित् है। वैकुण्ठ लोक भी सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, अतएव भगवान् के वे भक्त भी, जो भगवान् के धाम में प्रवेश पाते हैं, सच्चिदानन्द-स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस तरह उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं रहता। भगवान् के धाम, नाम, यश, पार्षद आदि एक ही दिव्य गुण वाले हैं और यह दिव्य गुण भौतिक जगत से किस प्रकार भिन्न होता है, इसकी व्याख्या इस श्लोक में की गई है। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने तीन प्रमुख विषयों—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—का वर्णन किया है, किन्तु इनमें से केवल भक्तियोग द्वारा ही मनुष्य वैकुण्ठ लोक पहुँच सकता है। अन्य दो विषय वैकुण्ठ लोक पहुँचाने में अक्षम रहते हैं, भले ही वे ब्रह्मज्योति तक सुगमता से पहुँचा दें जैसाकि ऊपर वर्णन किया गया है।

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्

यन्नेति नेतीत्यतदुत्तिसृक्षवः ।

विसृज्य दौरात्म्यमनन्य-सौहृदा

हृदोपगुह्यार्ह-पदं पदे पदे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

परम्—परम; पदम्—पद; वैष्णवम्—भगवान् के साथ; आमनन्ति—वे जानते हैं; तत्—वह; यत्—जो; न इति—यह नहीं; न इति—यह नहीं; इति—इस प्रकार; अतत्—ईश्वर-विहीन; उत्तिसृक्षवः—जो बचना चाहते हैं; विसृज्य—पूर्ण रूप से त्याग कर; दौरात्म्यम्—जटिलताएँ; अनन्य—पूर्णतया; सौहृदाः—उत्तम अभिलाषा से; हृदा उपगुह्य—हृदय में धारण करके; अर्ह—एकमात्र पूज्य; पदम्—चरणकमल; पदे पदे—क्षण-क्षण में।

योगीजन ईश्वर-विहीन प्रत्येक वस्तु से बचना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें उस परम स्थिति का पता है, जिसमें प्रत्येक वस्तु भगवान् विष्णु से सम्बन्धित है। अतएव वह शुद्ध भक्त, जो कि भगवान् से पूर्ण ऐक्य रखता है, जटिलताएँ उत्पन्न नहीं करता, अपितु भगवान् के चरण-कमलों

को हृदय में धारण करके उनकी प्रत्येक क्षण पूजा करता है।

**तात्पर्य :** भगवद्गीता में मद्धाम (मेरा धाम) का कई बार उल्लेख आया है और भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार परव्योम असीम है, जिसमें स्थित लोक वैकुण्ठ या भगवान् के धाम कहलाते हैं। उस व्योम में जो भौतिक व्योम से तथा इसके सात आवरणों से बहुत ही दूरी पर है, वहाँ न तो सूर्य या चाँद की आवश्यकता है, न ही प्रकाश के लिए बिजली की, क्योंकि ये लोक स्वयं प्रकाशित हैं और भौतिक सूर्यों से अधिक चमकीले हैं। सारे भगवद्भक्त भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में, वे भगवान् को अपना एकमात्र विश्वस्त मित्र तथा सुहृद मानते हैं। वे ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा समेत सारे संसारी प्राणियों की कोई परवाह नहीं करते। केवल उन्हें ही सारे वैकुण्ठ लोक स्पष्ट दिखते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त परमेश्वर के निर्देशन में रहकर दिव्य ज्ञान की किसी कृत्रिम चिन्ता में नहीं पड़ते और न ब्रह्म क्या है, माया क्या है, इसकी व्याख्या में समय गँवाते हैं। वे न तो अपने को भगवान् के साथ झूठा तदाकार हुआ मानते हैं, न यह तर्क करते हैं कि ईश्वर का अलग से अस्तित्व नहीं है या कि ईश्वर है ही नहीं या जीव ही ईश्वर है या जब ईश्वर अवतार ग्रहण करता है, तो वह भौतिक शरीर धारण करता है। न ही वे किसी अस्पष्ट चिन्तन-सिद्धान्त से चिन्तित रहते हैं, जो वास्तव में दिव्य ज्ञान के मार्ग में कई प्रकार से अवरोधक होते हैं। निर्विशेषवादी या अभक्त-वर्ग के अतिरिक्त ऐसे भी वर्ग हैं, जो अपने को भगवद्भक्त कहते हैं, किन्तु अपने अन्तःकरण में मोक्ष की भावना छिपाये रहकर निर्विशेष ब्रह्म से तदाकार होना चाहते हैं। वे खुले विलास द्वारा भक्ति का अपना ग़लत मार्ग निकाल लेते हैं और दूसरे ऐसे लोगों को मार्गच्युत करते हैं, जो निरे मूर्ख या उन्हीं के समान व्यसनी होते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, ये सारे अभक्त तथा व्यसनी महात्माओं के वेश में दुरात्मा होते हैं। ऐसे अभक्त तथा लम्पट इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी द्वारा योगियों की सूची से विलग कर दिये गये हैं।

इस तरह वैकुण्ठ लोक वास्तव में श्रेष्ठतम आवास-स्थान हैं, जिन्हें परं पदम् कहा जाता है। निर्विशेष ब्रह्मज्योति भी परं पदम् कहलाती है, क्योंकि सूर्य की किरणों के ही समान ये वैकुण्ठ लोक की किरणें हैं। भगवद्गीता (१४.२७) में स्पष्ट कहा गया है कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति भगवान् के शरीर पर आधारित रहती है और चूँकि प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मज्योति पर निर्भर रहती

है, अतएव प्रत्येक वस्तु भगवान् से उत्पन्न होती है, उन्हीं पर आश्रित रहती है और प्रलय के बाद उन्हीं में विलीन हो जाती है। अतएव उनसे कोई भी वस्तु स्वतन्त्र नहीं। भगवान् का शुद्ध भक्त अपना समय अब्रह्म एवं ब्रह्म में अन्तर करने में नहीं गँवाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता रहता है कि भगवान् परब्रह्म अपनी ब्रह्मशक्ति से हर वस्तु में गुँथे हुए हैं। इस तरह भक्त प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति के रूप में देखता है। भक्त हर वस्तु का उपयोग उन्हीं की सेवा में करना चाहता है और वह प्रकृति पर अपनी अनुचित प्रभुता जता कर के किसी प्रकार की जटिलता उत्पन्न नहीं करता। वह इतना आज्ञाकारी होता है कि अपने आपको तथा हर वस्तु को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाता है, भक्त हर वस्तु में भगवान् का दर्शन करता है और भगवान् में हर वस्तु को देखता है। दुरात्मा द्वारा उत्पन्न किया गया उत्पात उसकी इस धारणा के कारण उपजता है कि भगवान् का दिव्य रूप भौतिक है।

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो

विज्ञान-दृग्वीर्य-सुरन्धिताशयः ।

स्व-पार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं

स्थानेषु षट्सूत्रमयेजित-क्लमः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार से; मुनिः—दार्शनिक; तु—लेकिन; उपरमेत्—अलग हो ले; व्यवस्थितः—भलीभाँति स्थित; विज्ञान-दृक्—वैज्ञानिक दृष्टि से; वीर्य—बल; सु-रन्धित—भलीभाँति नियमित; आशयः—जीवन-उद्देश्य; स्व-पार्ष्णिना—अपनी एड़ी से; आपीड्य—रोककर; गुदम्—वायुद्वार को; ततः—तत्पश्चात्; अनिलम्—प्राणवायु को; स्थानेषु—स्थानों में; षट्सु—छः मुख्य; उन्नमयेत्—ऊपर उठाये; जित-क्लमः—भौतिक इच्छाओं को दमित करके।

वैज्ञानिक ज्ञान के बल पर मनुष्य को परम अनुभूति में पूर्ण रूप से स्थिर हो जाना चाहिए और इस तरह समस्त भौतिक इच्छाओं को शमन करने में समर्थ हो जाना चाहिए। मनुष्य को वायु-द्वार ( गुदा ) को पाँव की एड़ी से बन्द करके तथा प्राणवायु को एक-एक करके क्रमशः छः प्रमुख स्थानों ( चक्रों ) में एक-एक करके ऊपर ले जाना चाहिए और तब भौतिक शरीर का त्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : ऐसे अनेक दुरात्मा हैं, जो दावा करते हैं कि उन्हें ब्रह्म की अनुभूति हो चुकी है, लेकिन फिर भी वे भौतिक इच्छाओं को जीत पाने में असमर्थ रहते हैं। भगवद्गीता (१८.५४) में स्पष्ट बताया गया है कि स्वरूप-सिद्ध आत्मा समस्त भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह विलग रहता है। भौतिक इच्छाएँ

जीव के मिथ्या अहंकार पर आधारित होती हैं और ये उसके बचकाना तथा व्यर्थ के कार्यकलापों द्वारा प्रकृति के नियमों पर विजय पाने के रूप में तथा पाँच तत्त्वों के संसाधनों पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के रूप में प्रकट होती हैं। ऐसी मनोवृत्ति होने पर मनुष्य को भौतिक विज्ञान की शक्ति पर विश्वास हो जाता है, जिसमें परमाणु ऊर्जा की खोज तथा यान्त्रिक यानों द्वारा अन्तरिक्ष-यात्रा सम्मिलित हैं और भौतिक विज्ञान की ऐसी क्षुद्र उपलब्धियों के द्वारा छद्म अहंकारवादी उस परमेश्वर की भी शक्ति को ललकारने का प्रयत्न करता है, जो क्षण भर से कम समय में मनुष्य के इन सारे क्षुद्र प्रयासों को समाप्त कर सकती है। सुस्थित आत्मा या ब्रह्म-सिद्ध आत्मा भलीभाँति समझता है कि परब्रह्म या भगवान् ही सर्वशक्तिमान् वासुदेव हैं और वह (स्वरूप-सिद्ध जीव) परम पूर्ण का अंश ही है। इस तरह उसकी स्वाभाविक स्थिति सेवक तथा सेव्य के दिव्य सम्बन्ध के रूप में भगवान् के साथ सहयोग करने की है। ऐसा स्वरूपसिद्ध जीव भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के अपने व्यर्थ के कार्यकलाप को प्रदर्शित करना बन्द कर देता है। वैज्ञानिक विधि से अच्छी तरह परिचित होने के कारण वह भगवान् की श्रद्धापूर्ण भक्ति में पूरी तरह जुट जाता है।

सक्षम योगी जो योग-पद्धति की स्वीकृत विधि द्वारा प्राणवायु को नियन्त्रित करने का अभ्यास करता होता है, उसे इस प्रकार शरीर त्याग करने की सलाह दी जाती है—उसे गुदाद्वार को अपने पैर की एड़ी से दबाना चाहिए और तब प्राणवायु को क्रमशः छहों स्थानों (चक्रों) में घुमाना चाहिए—ये स्थान हैं नाभि, उदर, हृदय, वक्षस्थल, तालु, भौंह तथा ब्रह्मरन्ध्र। स्वीकृत योगविधि द्वारा प्राणवायु को नियन्त्रित करना यान्त्रिक है और यह विधि आध्यात्मिक पूर्णता (सिद्धि) के लिए न्यूनाधिक एक तरह का भौतिक प्रयास है। प्राचीन काल में ऐसा अभ्यास योगी के लिए बहुत सामान्य बात होती थी, क्योंकि उन दिनों जीवन तथा चरित्र की शैली अनुकूल थी। किन्तु वर्तमान समय में जब कलियुग का प्रभाव इतना विचलित करनेवाला बन गया है, तो लगभग प्रत्येक व्यक्ति इस शारीरिक व्यायाम की कला में अप्रशिक्षित होता है। इन दिनों भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करके, मन की एकाग्रता सरलता से प्राप्त की जा सकती है। इस तरह प्राप्त फल प्राणवायु के भीतरी अभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाले फल से अधिक प्रभावशाली होते हैं।

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोष्य तस्मा-  
 दुदान-गत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।  
 ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी  
 स्व-तालु-मूलं शनकैर्नयेत ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

नाभ्याम्—नाभि में; स्थितम्—स्थित; हृदि—हृदय में; अधिरोष्य—रखकर; तस्मात्—वहाँ से; उदान—उदान, ऊपर उठाते हुए;  
 गत्य—वेग से; असि—छाती पर; तम्—तत्पश्चात्; नयेत्—ले जाय; मुनिः—ध्यानवान भक्त; ततः—उनको; अनुसन्धाय—  
 खोज करने के लिए; धिया—बुद्धि से; मनस्वी—ध्यानशील; स्व-तालु-मूलम्—तालू के निचले भाग में; शनकैः—धीरे-धीरे;  
 नयेत—ले जाये।

ध्यानमग्न भक्त को चाहिए कि वह प्राणवायु को धीरे-धीरे नाभि से हृदय में, हृदय से छाती में और वहाँ से तालु के निचले भाग तक ले जाये। उसे बुद्धि से समुचित स्थानों को ढूँढ निकालना चाहिए।

तात्पर्य : वायु की गति के छः चक्र हैं। बुद्धिमान भक्त को चाहिए कि बुद्धि तथा ध्यान लगाकर इन स्थानों को खोजे। इनमें से उसके पूर्व जिस चक्र का उल्लेख है, वह स्वाधिष्ठान चक्र या प्राणवायु का शक्ति-आगार है और इसके ऊपर नाभि के नीचे मणिपूरक चक्र है। जब हृदय में ऊपरी स्थान की खोज की जाती है, तो अनाहत चक्र मिलता है और इससे भी ऊपर जब प्राणवायु को तालुमूल पर स्थिर किया जाता है, तो विशुद्धि चक्र मिलता है।

तस्माद् भुवोरन्तरमुन्नयेत  
 निरुद्ध-सप्तायतनोऽनपेक्षः ।  
 स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठ-दृष्टि-  
 निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

तस्मात्—वहाँ से; भुवोः—भौहों के; अन्तरम्—बीच में; उन्नयेत—ले जाना चाहिए; निरुद्ध—रोककर; सप्त—सात;  
 आयतनः—प्राणवायु के बहिर्द्वार; अनपेक्षः—समस्त भौतिक भोग से स्वतन्त्र; स्थित्वा—रखकर; मुहूर्त—क्षण भर; अर्धम्—  
 आधा; अकुण्ठ—भगवान् के धाम वापस; दृष्टिः—जिसका ध्येय है; निर्भिद्य—भेदकर; मूर्धन्—ब्रह्मरन्ध्र; विसृजेत्—अपना  
 शरीर त्याग दे; परम्—परमेश्वर; गतः—गया हुआ।

तत्पश्चात्, भक्तियोगी को अपनी प्राणवायु दोनों भौहों के मध्य लाना चाहिए और तब प्राणवायु के सातों बहिर्द्वारों को बन्द करके, उसे भगवद्धाम वापस जाने को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यदि वह भौतिक भोग की सारी इच्छाओं से मुक्त है, तब उसे ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचना

चाहिए तथा भगवान् के पास चले जाने पर अपने सारे भौतिक बन्धनों को त्याग देना चाहिए।

**तात्पर्य :** यहाँ पर सारे भौतिक बन्धनों को त्यागने और भगवद्धाम वापस जाने की विधि संस्तुत की गई है। इसकी शर्त यह है कि मनुष्य को पहले भौतिक भोग की इच्छा से पूरी तरह मुक्त हो जाना चाहिए। आयु तथा इन्द्रियतृप्ति के अनुसार, भौतिक भोग की कई कोटियाँ हैं। *भगवद्गीता* (९.२०) में सबसे अधिक जीवनावधि तक इन्द्रिय-भोग के सर्वोच्च धरातल का उल्लेख हुआ है। ये सारे के सारे भौतिक भोग हैं और मनुष्य को इससे आश्वस्त हो जाना चाहिए कि उसे ब्रह्मलोक तक की इतनी दीर्घ आयु की भी आवश्यकता नहीं होती। उसे भगवद्धाम लौटना ही होगा। उसे अत्यधिक भौतिक सुविधाओं से आकृष्ट नहीं होना चाहिए। *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है कि ऐसी भौतिक विरक्ति तभी प्राप्त की जा सकती है, जब मनुष्य जीवन की परम संगति से परिचित हो जाए। *परं दृष्ट्वा निवर्तते*। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन की प्रकृति को पूरी तरह समझ नहीं लेता, तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता। निर्विशेषवादियों की एक श्रेणी द्वारा यह प्रचार करना कि आध्यात्मिक जीवन सभी प्रकार से शून्य है, घातक है और जीवों को बहका कर अधिकाधिक भौतिक भोग की ओर ले जानेवाला है; फलस्वरूप, अल्पज्ञों को *परम्* या परमेश्वर की कोई धारणा नहीं हो पाती; वे अपने को ब्रह्म-सिद्ध जीव कहकर भले ही मन को बहला लें, किन्तु वे नाना प्रकार के भौतिक भोगों से चिपके रहना चाहते हैं। ऐसे अल्पज्ञों के पास *परम्* की कोई अव-धारणा नहीं हो सकती, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है, अतएव वे परमेश्वर के पास नहीं पहुँच पाते। भक्तों को आध्यात्मिक जगत, भगवान् तथा वैकुण्ठ लोक कहलाने वाले असीम लोकों में उनकी दिव्य संगति का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। यहाँ पर *अकुण्ठ-दृष्टिः* का उल्लेख हुआ है। *अकुण्ठ* या *वैकुण्ठ* का एक ही भाव है और जिस किसी ने भी आध्यात्मिक जगत तथा भगवान् के साथ साक्षात् संगति को अपना लक्ष्य बना रखा है, केवल वही इस संसार में रहते हुए भी अपने भौतिक बन्धनों को त्याग सकता है। यह *परम्* शब्द तथा *भगवद्गीता* में कई स्थानों पर आया परं धाम शब्द एक ही है। जो भी परम धाम को जाता है, वह कभी इस जगत में लौट कर नहीं आता। ऐसी मुक्ति भौतिक जगत के सर्वोच्च लोक को प्राप्त करने पर भी नहीं मिल सकती।



प्राणवायु सात छिद्रों द्वारा निकलती है। ये हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा एक मुँह। सामान्यतया मनुष्य की मृत्यु के समय यह वायु मुँह से होकर निकलती है। किन्तु जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जो योगी प्राणवायु को अच्छी तरह से वश में करता है, वह सिर में ब्रह्मरन्ध्र को भेद करके प्राणवायु का त्याग करता है। अतएव योगी उपर्युक्त सातों छिद्रों को बन्द कर देता है, जिससे प्राणवायु सहज ही ब्रह्मरन्ध्र से होकर फूट निकले। यह महान् भक्त के भौतिक बन्धन त्यागने का निश्चित चिह्न है।

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं  
वैहायसानामुत यद् विहारम् ।  
अष्टाधिपत्यं गुण-सन्निवाये  
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

यदि—यदि; प्रयास्यन्—इच्छा करने पर; नृप—हे राजा; पारमेष्ठ्यम्—भौतिक जगत का अधिष्ठाता लोक; वैहायसानाम्—वैहायस नामक जीवों का; उत—कहा जाता है; यत्—जो है; विहारम्—भोग का स्थान; अष्ट-आधिपत्यम्—अष्टसिद्धियों का स्वामी; गुण-सन्निवाये—त्रिगुणात्मक जगत में; सह—साथ; एव—निश्चय ही; गच्छेत्—जाना चाहिए; मनसा—मन से; इन्द्रियैः—तथा इन्द्रियों से; च—भी।

तथापि, हे राजन्, यदि योगी में अत्यधिक भौतिक भोगों की, यथा सर्वोच्चलोक ब्रह्मलोक जाने की, या अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त करने की, अथवा वैहायसों के साथ बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा करने, या लाखों लोकों में से किसी एक में स्थान प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है, तो उसे भौतिकता में ढले मन तथा इन्द्रियों को अपने साथ-साथ ले जाना होता है।

तात्पर्य : ऊर्ध्व लोकों में अधल्लोकों की अपेक्षा हजारों-हजार गुना अधिक भौतिक भोग की सुविधाएं हैं। सर्वोच्च लोकों में ब्रह्मलोक, ध्रुवलोक इत्यादि हैं और वे सब महर्लोक के ऊपर हैं। इन लोकों के निवासियों को अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हैं। उन्हें योग सीखने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती और वे कण के समान लघु होने की शक्ति (अणिमा सिद्धि) या पंख से भी हल्का होने की शक्ति (लघिमा सिद्धि) प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें भारी से भारी होने की (महिमा सिद्धि), कोई आश्चर्यजनक वस्तु उत्पन्न करने या कि इच्छानुसार किसी वस्तु को विनष्ट करने के लिए स्वतन्त्रापूर्वक कार्य करने की (ईशित्व सिद्धि) या सारे तत्त्वों को वश में करने की (वशित्व सिद्धि), किसी भी इच्छा के विफल न होने की

शक्ति रखने की ( *प्राकाम्य सिद्धि* ) या इच्छानुसार कोई भी रूप धारण करने ( *कामवसायिता सिद्धि* ) के लिए, कोई वस्तु किसी स्थान-विशेष से प्राप्त करने की ( *प्राप्ति सिद्धि* ) की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये सारी *सिद्धियाँ* उच्च लोक के वासियों को प्राकृतिक उपहार के रूप में मिली होती हैं। उन्हें बाह्य अन्तरिक्ष में विचरण करने के लिए किसी यान्त्रिक सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती और वे पलक मारते एक लोक से दूसरे लोकों में इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं। पृथ्वी के निवासी तो निकटतम लोक तक भी यान्त्रिक यान, यथा अन्तरिक्ष यान के बिना, यात्रा नहीं कर सकते, किन्तु ऐसे उच्चलोकों के प्रतिभा सम्पन्न निवासी सारा काम आसानी से कर लेते हैं।

चूँकि भौतिकतावादी ऐसे लोकों में वास्तव में जो कुछ है उसका अनुभव प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है, अतएव वह हर वस्तु को स्वयं देखना चाहता है। जैसे उत्सुक व्यक्ति पूरे संसार में घूमकर प्रत्यक्ष स्थानीय अनुभव प्राप्त करना चाहता है, उसी तरह अल्पज्ञ आध्यात्मिक व्यक्ति उन लोकों का कुछ अनुभव प्राप्त करना चाहता है, जिनके विषय में उसने विस्मयपूर्ण बातें सुन रखी हैं। किन्तु योगी अपने मन तथा इन्द्रियों सहित वहाँ जाकर अपनी इच्छा आसानी से पूरी कर सकता है। भौतिकतावादी मस्तिष्क की मूल प्रवृत्ति भौतिक जगत पर प्रभुत्व जताने की है और यहाँ पर वर्णित सारी सिद्धियाँ भौतिक जगत पर प्रभुत्व की द्योतक हैं। भगवद्भक्त इतने महत्त्वाकांक्षी नहीं होते कि मिथ्या तथा क्षणभंगुर घटना पर प्रभुत्व जताना चाहें। इसके विपरित भक्त तो परम अधिष्ठाता भगवान् द्वारा शासित होना चाहते हैं। भगवान् या परम अधिष्ठाता की सेवा करने की इच्छा आध्यात्मिक या दिव्य है और आध्यात्मिक जगत में प्रवेश पाने के लिए मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों की यह शुद्धि प्राप्त करनी होती है। भौतिकतावादी मन से मनुष्य ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ लोक में पहुँच सकता है, लेकिन वह भगवद्धाम में नहीं जा सकता। इन्द्रियतृप्ति में रत न रहने पर इन्द्रियाँ आध्यात्मिक रीति से शुद्ध कहलाती हैं। इन्द्रियाँ कार्यरत रहना चाहती हैं और जब वे ही इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त रहती हैं, तो वे भौतिक दूषणों से कलुषित नहीं हो पातीं।

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-

बहिस्त्रि-लोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।

न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति

विद्या-तपो-योग-समाधि-भाजाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वराणाम्—महान् सन्तों तथा भक्तों का; गतिम्—गन्तव्य; आहुः—कहा जाता है; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों का; पवन-अन्तः—वायु के भीतर; आत्मनाम्—सूक्ष्म शरीर का; न—कभी नहीं; कर्मभिः—सकाम कर्मों के द्वारा; ताम्—उस; गतिम्—चालक को; आप्नुवन्ति—प्राप्त करते हैं; विद्या—भक्ति; तपः—तपस्या; योग—योग-शक्ति; समाधि—ज्ञान; भाजाम्—पात्रों को ।

योगियों का सम्बन्ध आध्यात्मिक शरीर के होता है। फलस्वरूप अपनी भक्ति, तपस्या, योगशक्ति तथा दिव्य ज्ञान के बल पर वे भौतिक जगत के भीतर तथा बाहर अबाध रूप से विचरण कर सकते हैं। किन्तु सकाम-कर्मी या निपट भौतिकतावादी इस तरह मुक्त भाव से कभी विचरण नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भौतिकतावादी विज्ञानियों द्वारा, यान्त्रिक यानों की सहायता से, अन्य लोकों तक पहुँचने के सारे प्रयास केवल निरर्थक हैं। तथापि पुण्यकर्मों द्वारा मनुष्य स्वर्ग-लोक पहुँच सकता है। किन्तु ऐसे यान्त्रिक या भौतिकतावादी कार्यों द्वारा, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, मनुष्य स्वर्ग या जनलोक से आगे नहीं जा सकता। चूँकि योगियों को स्थूल शरीर से कुछ लेना-देना नहीं रहता, अतएव वे भौतिक जगत के भीतर या बाहर कहीं भी विचरण कर सकते हैं। भौतिक जगत के भीतर वे महः, जनः, तपः तथा सत्यलोकों में और भौतिक जगत के परे वैकुण्ठ लोकों में, बिना रोकटोक के, अन्तरिक्ष यात्री के रूप में विचरण कर सकते हैं। नारद मुनि ऐसे ही अन्तरिक्ष-यात्री का उदाहरण हैं और दुर्वासा मुनि ऐसे ही योगियों में से एक हैं। प्रत्येक व्यक्ति भक्ति, तपस्या, योग-शक्ति तथा दिव्य ज्ञान के बल पर नारद मुनि या दुर्वासा मुनि की भाँति विचरण कर सकता है। ऐसा कहा जाता है कि दुर्वासा मुनि ने, केवल एक वर्ष में ही, सम्पूर्ण भौतिक व्योम तथा परव्योम के कुछ भाग की यात्रा की थी। स्थूल या सूक्ष्म भौतिकतावादी योगियों की गति को कभी नहीं पा सकते।

वैश्वानरं याति विहायसा गतः

सुषुम्णया ब्रह्म-पथेन शोचिषा ।

विधूत-कल्कोऽथ हररुदस्तात्

प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

वैश्वानरम्—अग्निदेव; याति—जाता है; विहायसा—आकाश मार्ग ( आकाश-गंगा ) से; गतः—पार करके; सुषुम्णया—सुषुम्णा द्वारा; ब्रह्म—ब्रह्मलोक; पथेन—पथ से; शोचिषा—प्रकाशमान; विधूत—धुला हुआ; कल्कः—धूल, मल; अथ—तत्पश्चात्; हरेः—हरि के; रुदस्तात्—ऊपर; प्रयाति—पहुँचता है; चक्रम्—चक्र; नृप—हे राजा; शैशुमारम्—शिशुमार नामक ।

हे राजन्, जब योगी सर्वोच्चलोक ब्रह्मलोक पहुँचने के लिए प्रकाशमान सुषुम्णा द्वारा आकाश-गंगा के ऊपर से गुजरता है, तो वह सर्वप्रथम अग्निदेव के लोक वैश्वानर जाता है, जहाँ वह सारे कल्मषों से परि-शुद्ध हो जाता है। तब वह भगवान् से तादात्म्य के लिए उससे भी ऊपर शिशुमार चक्र को जाता है।

तात्पर्य : ध्रुवतारा तथा उसके आसपास का मंडल शिशुमार चक्र कहलाता है, जहाँ पर भगवान् (क्षीरोदकशायी विष्णु) का निवास-स्थान है। वहाँ तक पहुँचने के पूर्व योगी को आकाश-गंगा के ऊपर से होकर ब्रह्मलोक पहुँचना होता है। वहाँ जाते समय सर्वप्रथम वह वैश्वानर लोक पहुँचता है, जहाँ का देवता अग्नि पर नियंत्रण रखता है। इस वैश्वानर में योगी भौतिक जगत के संसर्ग में रहने के रहने कारण अर्जित समस्त पापों के मल से पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाता है। यहाँ पर आकाश गंगा को सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक को जानेवाले मार्ग के रूप में दिखाया गया है।

तद् विश्व-नाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो-

रणीयसा विरजेनात्मनैकः ।

नमस्कृतं ब्रह्म-विदामुपैति

कल्पायुषो यद् विबुधा रमन्ते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; विश्व-नाभिम्—विराट पुरुष की नाभि को; तु—लेकिन; अतिवर्त्य—पार कर; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; अणीयसा—योग-सिद्धि के कारण; विरजेन—शुद्ध की गई; आत्मना—जीव द्वारा; एकः—अकेला; नमस्कृतम्—पूज्य; ब्रह्म-विदाम्—अध्यात्म-पद पर स्थित रहनेवालों का; उपैति—पहुँचता है; कल्प-आयुषः—४,३००,०००,००० सौर वर्ष; यत्—जहाँ पर; विबुधाः—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; रमन्ते—भोग करते हैं।

यह शिशुमार चक्र संपूर्ण ब्रह्माण्ड के घूमने की कीली है और यह विष्णु ( गर्भोदकशायी विष्णु ) की नाभि कहलाती है। केवल योगी ही इस शिशुमार चक्र को पार करता है और ऐसे

लोक (महर्लोक) को प्राप्त करता है, जहाँ भृगु जैसे परि-शुद्ध हो चुके महर्षि ४,३००,०००,००० सौर वर्षों की आयु भोगते हैं। यह लोक उन सन्तों द्वारा भी पूजित है, जो अध्यात्मपद को प्राप्त हैं।

अथो अनन्तस्य मुखानलेन  
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ।  
निर्याति सिद्धेश्वर-युष्ट-धिष्यं  
यद् द्वै-परार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथो—तत्पश्चात्; अनन्तस्य—ईश्वर के विश्राम करनेवाले अवतार अनन्त के; मुख-अनलेन—मुख से निकलनेवाली अग्नि से; दन्दह्यमानम्—भस्मीभूत करते हुए; सः—वह; निरीक्ष्य—देखकर; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; निर्याति—बाहर जाता है; सिद्धेश्वर-युष्ट-धिष्यं—शुद्धात्मा द्वारा प्रयुक्त वायुयान; यद्—स्थान; द्वै-परार्ध्यम्—१५,४८०,०००,०००,००० सौर वर्ष; तद्—वह; उ—महान्; पारमेष्ठ्यम्—सत्यलोक, जहाँ ब्रह्मा निवास करते हैं।

संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्तिम संहार के समय (ब्रह्मा के जीवन के अन्त में), अनन्त के मुख से (ब्रह्माण्ड के नीचे से) अग्नि की ज्वाला फूट निकलती है। योगी ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को भस्म होकर क्षार होते हुए देखता है और वह शुद्धात्माओं द्वारा प्रयुक्त होनेवाले वायुयानों के द्वारा सत्यलोक के लिए प्रस्थान करता है। सत्यलोक में जीवन की अवधि दो परार्ध अर्थात् १५४८०,०००,०००,००० सौर वर्ष आँकी जाती है।

तात्पर्य : यहाँ यह संकेत किया गया है कि महर्लोक, जहाँ शुद्ध आत्माओं या देवताओं की आयु ४,३००,०००,००० सौर वर्ष आँकी जाती है, वहाँ के निवासियों के पास वायु-यान होते हैं, जिनसे वे ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक सत्य-लोक में पहुँचते हैं। दूसरे शब्दों में, *श्रीमद्भागवत* हमें अन्य लोकों के विषय में अनेक संकेत देता है, जो हमसे बहुत ही दूर हैं और जिन तक काल्पनिक वेग से भी अधिकगति वाले आधुनिक यान तथा अन्तरिक्ष यान नहीं पहुँच सकते। *श्रीमद्भागवत* के इन कथनों को श्रीधर स्वामी, रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य जैसे महान् आचार्यों ने स्वीकार किया है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तो *श्रीमद्भागवत* को निर्मल वैदिक प्रमाण के रूप में मानते हैं, अतएव कोई भी विचारवान व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* के कथनों की अवहेलना नहीं कर पाता जब कि इसके प्रवचनकर्ता स्वरूपसिद्ध व्यक्ति श्री शुकदेव गोस्वामी जो समस्त वैदिक वाङ्मय के संकलनकर्ता अपने पिता श्रील

व्यासदेव के पदचिह्नों का अनुसरण करनेवाले हैं। भगवान् की इस सृष्टि में ऐसी अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से सदैव देखते रहते हैं, किन्तु आधुनिक भौतिकतावादी विज्ञान द्वारा उन तक पहुँचने में अक्षम रहते आए हैं। अतएव हमें वैज्ञानिक परिधि से परे वस्तुओं को जानने के लिए भौतिकतावादी विज्ञान के खण्डित प्रमाण पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को आधुनिक विज्ञान तथा वैदिक विद्या दोनों ही ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वह न तो आधुनिक विज्ञान की, न ही वैदिक साहित्य के एक भी कथन की जांच कर सकता है। सामान्य व्यक्ति के सामने एक ही विकल्प रह जाता है कि या तो वह इनमें से किसी एक पर विश्वास करे या दोनों पर करे। किन्तु समझने की वैदिक विधि अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि उसे उन आचार्यों ने स्वीकार किया है, जो न केवल श्रद्धालु एवम् विद्वान् व्यक्ति हैं, अपितु मुक्त व्यक्ति भी हैं तथा बद्धजीवों के समस्त दोषों से रहित हैं। आधुनिक विज्ञानी तो ऐसे बद्धजीव हैं, जो अनेक त्रुटियाँ कर सकते हैं। अतएव अच्छा यही होगा कि *श्रीमद्भागवत* जैसे वैदिक ग्रंथों के प्रामाणिक वचन को स्वीकार किया जाय, जिसे महान् आचार्यों ने एकस्वर से स्वीकार किया है।

न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-  
नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् ।  
यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदं-विदां  
दुरन्त-दुःख-प्रभवानुदर्शनात् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ है; शोकः—शोक; न—न तो; जरा—बुढ़ापा; न—न तो; मृत्युः—मृत्यु; न—न तो; अर्तिः—पीड़ा; न—न तो; च—भी; उद्वेगः—चिन्ताएँ; ऋते—के अतिरिक्त, बिना; कुतश्चित्—कभी-कभी; यत्—के कारण; चित्—चेतना; ततः—तत्पश्चात्; अदः—दया; कृपया—हार्दिक दया से; अन्-इदम्-विदाम्—भक्तियोग के अनभिज्ञों का; दुरन्त—दुर्लभ्य; दुःख—कष्ट; प्रभव—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु; अनुदर्शनात्—क्रमिक अनुभव से।

सत्यलोक में न तो शोक है, न बुढ़ापा, न मृत्यु। वहाँ किसी प्रकार की वेदना नहीं है, जिसके कारण किसी तरह की चिन्ता भी नहीं है। हाँ, कभी-कभी चेतना के कारण उन लोगों पर दया उमड़ती है, जो भक्तियोग से अवगत न होने से भौतिक जगत के दुर्लभ्य कष्टों को भोग रहे हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी स्वभाव के मूर्ख व्यक्ति परम्परागत प्रामाणिक ज्ञान का कोई लाभ नहीं

उठाते। वैदिक ज्ञान प्रामाणिक है और इसकी प्राप्ति प्रयोग द्वारा नहीं, अपितु प्रामाणिक व्यक्तियों (अधिकारियों) द्वारा बताये गये ग्रन्थों के प्रामाणिक कथनों द्वारा होती है। मात्र पण्डित हो जाने से कोई वैदिक कथनों को नहीं समझ सकता, उसे उस वास्तविक विद्वान् के पास जाना होता है, जिसने शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान प्राप्त किया हो, जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में स्पष्ट कहा गया है। भगवान् कृष्ण जोर देते हुए कहते हैं कि *भगवद्गीता* में जिस ज्ञान-पद्धति की व्याख्या की गई है, वह सूर्यदेव को बताई गई थी और यही ज्ञान शिष्य-परम्परा द्वारा सूर्यदेव से उनके पुत्र मनु को प्राप्त हुआ और मनु से राजा इक्ष्वाकु (भगवान् रामचन्द्र के पितामह) को प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह ज्ञान पद्धति एक-एक करके महान् ऋषियों को प्राप्त होती रही। किन्तु कालानुक्रम में यह प्रामाणिक परम्परा टूट गई, अतएव ज्ञान की पुनःस्थापना के लिए, भगवान् ने वही ज्ञान अर्जुन को प्रदान किया, क्योंकि भगवद्भक्त होने के कारण वह इसे समझने का योग्य पात्र था। अर्जुन ने *भगवद्गीता* को जिस रूप में समझा उसका भी वर्णन हुआ है (*भगवद्गीता* १०.१२-१३), किन्तु ऐसे अनेक मूर्ख व्यक्ति हैं, जो *भगवद्गीता* के सार को समझने के लिए अर्जुन के पदचिह्नों का अनुसरण नहीं करते। वे अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हीं के समान मूर्खतापूर्ण होती हैं और वास्तविक ज्ञान के मार्ग में रोड़े का काम करती हैं तथा अल्पज्ञों या शूद्रों को गुमराह करने वाली हैं। यह कहा गया है कि वैदिक कथनों को समझने के पूर्व मनुष्य को ब्राह्मण बन जाना चाहिए। यह आक्षेप उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि यह आक्षेप कि स्नातक हुए बिना कोई वकील नहीं बन सकता। ऐसा आक्षेप किसी की भी प्रगति में बाधक नहीं होता, अपितु किसी विशेष विज्ञान को अच्छी तरह समझने के लिए अनिवार्य है। जो योग्य ब्राह्मण नहीं हैं, वे वैदिक ज्ञान की मनमानी व्याख्या करते हैं। सुपात्र ब्राह्मण वह है, जिसने प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में कठिन प्रशिक्षण प्राप्त किया हो।

वैदिक विद्या हमें परमेश्वर श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को समझने में और भगवद्धाम वापस जाने के इच्छित फल को प्राप्त करने के लिए तदनुकूल कर्म करने में, मार्गदर्शन का कार्य करती है। लेकिन भौतिकतावादी लोग इसे नहीं समझ पाते। वे ऐसे स्थान में सुखी रहने की योजना बनाना चाहते हैं जहाँ सुख है ही नहीं। वे मिथ्या सुख के लिए या तो वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा, या अन्तरिक्षयान द्वारा

अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयास करते हैं, लेकिन उन्हें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि ऐसे स्थान में जहाँ दुख ही दुख है, सुखी होने के लिए भौतिक समंजन की कोई भी मात्रा पथभ्रष्ट व्यक्ति को लाभ नहीं पहुँचा सकती, क्योंकि अन्ततोगत्वा इस ब्रह्माण्ड को कुछ काल बाद अपने समस्त वस्तुओं सहित विनष्ट होना है। तब भौतिकतावादी सुख की सारी योजनाएँ जैसी की तैसी धरी रह जायेंगी। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य भगवद्धाम वापस जाने की योजना बनाता है। ऐसा व्यक्ति संसार के सभी तापों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि—को पार कर जाता है। वह वास्तव में इसीलिए सुखी रहता है, क्योंकि उसे संसार की एक भी चिन्ता नहीं घेरती, अपितु वह दयालु होने के कारण उन भौतिकतावादी लोगों के लिए दुखी रहता है, जो कष्ट भोग रहे हैं और इस प्रकार से वह कभी-कभी ऐसे लोगों को भगवद्धाम वापस जाने की आवश्यकता का उपदेश देने के लिए उनके समक्ष आता है। सारे प्रामाणिक आचार्य भगवद्धाम वापस जाने की सत्यता का उपदेश देते हैं और लोगों को सचेत करते रहते हैं कि ऐसे स्थान में सुख की कोई योजना न बनायें जहाँ सुख कोरी कल्पना है।

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-

स्तेनात्मनापोऽनल-मूर्तिरत्वरन् ।

ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले

वाय्वात्मना खं बृहदात्म-लिङ्गम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; विशेषम्—विशेषरूप से; प्रतिपद्य—प्राप्त करके; निर्भयः—बिना किसी सन्देह के; तेन—उससे; आत्मना—शुद्ध आत्मा; आपः—जल; अनल—अग्नि; मूर्तिः—रूप; अत्वरन्—पार करके; ज्योतिः—मयः—तेजवान्; वायुम्—वायुमण्डल में; उपेत्य—पहुँचकर; काले—कालक्रम से; वायु—वायु; आत्मना—आत्मा से; खम्—आकाश में; बृहत्—विशाल; आत्म-लिङ्गम्—आत्मा का असली स्वरूप।

सत्यलोक पहुँचकर भक्त अपने सूक्ष्म शरीर से, अपने स्थूल शरीर जैसी सत्ता में निर्भय होकर समाविष्ट हो जाता है और क्रमशः वह भूमि से जल, अग्नि, तेज तथा वायु की अवस्थाएँ पार करता हुआ अन्त में स्वर्गीय आकाश में पहुँच पाता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति आध्यात्मिक सिद्धि तथा अभ्यास से ब्रह्मलोक या सत्यलोक तक पहुँच जाता है, वह तीन विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने का पात्र बन जाता है। जो व्यक्ति अपने पूर्व पुण्यकर्मों के कारण कोई विशेष लोक प्राप्त करता है, तो वह अपने आनुपातिक पुण्यकर्मों के आधार



पर ही ऐसे स्थान पाता है। जो व्यक्ति विराट या हिरण्यगर्भ की पूजा करके स्थान प्राप्त करता है, वह भी ब्रह्मा की मुक्ति के साथ-साथ मुक्त हो जाता है। किन्तु भक्ति के बल पर व्यक्ति जो स्थान प्राप्त करता है, जिसका यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, वह ब्रह्माण्ड के विभिन्न आवरणों को भेदकर अन्ततः परम अस्तित्व से परिपूर्ण वायुमण्डल में अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट कर पाता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सारे ब्रह्माण्ड ऊपर-नीचे एक दूसरे से संपुंजित हैं और इनमें से प्रत्येक में सात-सात आवरण हैं। जलमय अंश इन सप्तावरणों से परे होता है और प्रत्येक सप्तावरण अपने पूर्ववर्ती आवरण से दसगुना अधिक विस्तीर्ण है। जो भगवान् इन सारे ब्रह्माण्डों को अपनी श्वास से सृजित करता है, वह ब्रह्माण्डों के पुंज के ऊपर शयन करता है। कारणार्णव का जल ब्रह्माण्ड के जल-आवरण से पृथक् स्थित रहता है। ब्रह्माण्ड को आवरित करनेवाला जल भौतिक जल है, जबकि कारणार्णव का जल आध्यात्मिक जल है। फलस्वरूप, यहाँ जिस जल-आवरण का उल्लेख हुआ है, वह समस्त जीवों के मिथ्या अहंकार का आवरण माना जाता है। यहाँ पर एक-एक करके भौतिक आवरणों से क्रमिक मुक्ति का जो उल्लेख हुआ है, वह स्थूल शरीर की मिथ्या अहंकार अवधारणाओं से क्रमशः मुक्त होने तथा उसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर में तब तक लीन रहने की प्रक्रिया है जब तक भगवद्धाम में शुद्ध आध्यात्मिक शरीर प्राप्त न हो ले।

श्रील श्रीधर स्वामी पुष्टि करते हैं कि भगवान् द्वारा संस्कारित किए जाने के बाद प्रकृति का एक अंश महत्-तत्त्व कहलाता है। इस महत्-तत्त्व का ही एक अंश मिथ्या अहंकार कहलाता है। अहंकार का एक अंश शब्द-ध्वनि है और शब्द-ध्वनि का एक अंश वायुमंडल की वायु है। इस वायु का एक अंश स्वरूपों में बदल जाता है और इन स्वरूपों से विद्युत् या उष्मा बनती है। उष्मा से पृथ्वी की गंध उत्पन्न होती है तथा इस गंध से स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये सब मिलकर दृश्य जगत् बनाते हैं। दृश्य जगत् का विस्तार ४ अरब मील (दोनों ओर का व्यास) है। तब ब्रह्मांड के आवरणों का शुभारम्भ होता है। पहले आवरण का विस्तार ८ करोड़ मील है। इसके पश्चात् ब्रह्मांड के आवरण क्रमशः अग्नि, तेज, वायु तथा आकाश के हैं और प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती आवरण से दसगुना विस्तार वाला होता है। भगवान्

का निर्भीक भक्त इन्हें क्रमशः भेदकर परम वायुमण्डल में प्रवेश करता है जहाँ प्रत्येक वस्तु एक ही आध्यात्मिक सत्ता है। तब भक्त किसी एक वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करता है जहाँ वह भगवान् जैसा ही स्वरूप धारण करके उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। भक्तिमय जीवन की यही सर्वोच्च सिद्धि है। पूर्ण योगी को इससे अधिक कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती।

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं

रूपं च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।

श्रोत्रेण चोपेत्य नभो-गुणत्वं

प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

घ्राणेन—सूँघने से; गन्धम्—सुगन्ध; रसनेन—स्वाद से; वै—ठीक-ठीक; रसम्—स्वाद; रूपम्—स्वरूप; च—भी; दृष्ट्या—दृष्टि से; श्वसनम्—सम्पर्क; त्वचा—स्पर्श; एव—मानो; श्रोत्रेण—कान के कम्पन से; च—भी; उपेत्य—प्राप्त करके; नभः—गुणत्वम्—आकाश की पहचान; घ्राणेन—इन्द्रियों से; च—भी; आकूतिम्—भौतिक कार्य-कलाप; उपैति—प्राप्त करता है; योगी—भक्त।

इस प्रकार भक्त विभिन्न इन्द्रियों के सूक्ष्म विषयों को पार कर जाता है, यथा सूँघने से सुगन्धि को, चखने से स्वाद को, स्वरूप देखने से दृष्टि को, सम्पर्क द्वारा स्पर्श को, आकाशीय पहचान से कान के कम्पनों को तथा भौतिक कार्य-कलापों से इन्द्रियों को।

तात्पर्य : आकाश से परे सूक्ष्म आवरण हैं, जो ब्रह्माण्डों के प्राथमिक आवरणों के समान हैं। ये स्थूल आवरण, सूक्ष्म कारणों के आंशिक अवयवों के विकास हैं। इस तरह योगी या भक्त, स्थूल तत्त्वों के विलीन होने के साथ-साथ सूँघने से सुगन्ध जैसे सूक्ष्म कारणों का परित्याग कर देता है। इस तरह शुद्ध आध्यात्मिक स्फुलिंग-स्वरूप जीव सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध होकर भगवद्धाम में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है।

स भूत-सूक्ष्मेन्द्रिय-सन्निकर्षं

मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।

संसाद्य गत्या सह तेन याति

विज्ञान-तत्त्वं गुण-सन्निरोधम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह ( भक्त ); भूत—स्थूल; सूक्ष्म—तथा सूक्ष्म; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; सन्निकर्षम्—उदासीनता का बिन्दु; मनः—मयम्—मानसिक स्तर; देव-मयम्—सतो गुण में; विकार्यम्—अहंकार; संसाद्य—पार करके; गत्या—प्रगति से; सह—साथ-साथ; तेन—उनके; याति—जाता है; विज्ञान—पूर्ण ज्ञान; तत्त्वम्—सत्य; गुण—गुण; सन्निरोधम्—पूर्ण रूप से अवरुद्ध।

इस तरह से भक्त स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों को पार करके अहंकार के स्तर में प्रवेश करता है। उस अवस्था में वह भौतिक गुणों ( रजो तथा तमो गुणों ) को इस उदासीन बिन्दु में विलीन कर देता है और इस तरह वह सतो गुणी अहंकार को प्राप्त होता है। इसके पश्चात् सारा अहंकार महत् तत्त्व में विलीन हो जाता है और वह शुद्ध आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जैसा कि हम कई बार बता चुके हैं, शुद्ध आत्म-साक्षात्कार अपने को भगवान् के नित्य दास के रूप में स्वीकार करने की शुद्ध चेतना है। इस तरह मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति की अपनी मूल स्थिति में पुनः आरुढ़ होता है, जैसा कि अगले श्लोक में स्पष्ट बताया गया है। भगवान् से किसी प्रकार का पारिश्रमिक पाये बिना या अन्य रूप में भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की यह अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब भौतिक इन्द्रियाँ शुद्ध हों तथा इन्द्रियों की आदि शुद्ध अवस्था पुनः प्राप्त हो सके। यहाँ पर यह सुझाया गया है कि इन्द्रियों को योग के द्वारा शुद्ध किया जा सकता है—इसमें स्थूल इन्द्रियाँ तमोगुण में लीन हो जाती हैं और सूक्ष्म इन्द्रियाँ रजोगुण में। मन का सम्बन्ध सतो गुण से होता है, अतएव यह देवमय कहलाता है। मन की पूर्ण शुद्धि तभी सम्भव हो पाती है जब मनुष्य भगवान् का नित्य दास बनकर स्थिर हो जाता है। अतएव सत्त्व की कोरी उपलब्धि भी भौतिक गुण है; मनुष्य को सत्त्व की यह भौतिक अवस्था पार करके शुद्ध सत्त्व या वसुदेव सत्त्व तक पहुँचना होता है। यह वसुदेव सत्त्व मनुष्य को भगवद्धाम में प्रविष्ट कराने में सहायक होता है।

इस प्रसंग में हमें स्मरण रखना होगा कि उपर्युक्त विधि की तुलना में भक्तों के क्रमिक उत्थान की विधि यद्यपि प्रामाणिक है, किन्तु वर्तमान युग के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि लोग योग-अभ्यास से मूलतः अनजान हैं। व्यावसायिक समर्थकों द्वारा तथाकथित योगाभ्यास भले ही शारीरिक क्रियाओं के लिए लाभप्रद हो, किन्तु इतनी छोटी सी सफलता यहाँ पर वर्णित आध्यात्मिक उत्थान की प्राप्ति में सहायक नहीं बन सकती। पाँच हजार वर्ष पूर्व जब मानव समाज का स्तर पूर्ण रूप से वैदिक व्यवस्था के अनुसार था, तो यहाँ पर वर्णित योग विधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्य बात थी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को, विशेष रूप से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को घर से दूर रहकर ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु की संरक्षण

में दिव्य कला में प्रशिक्षित किया जाता था। किन्तु आधुनिक मनुष्य इसे ठीक से समझ पाने में अक्षम है।

इसीलिए भगवान् श्री चैतन्य ने इस युग के भावी भक्तों के लिए इसे निम्नलिखित विधि से अत्यन्त सुगम बना दिया। अन्तिम प्राप्त होने वाले फल में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। सबसे मुख्य बात तो यह है कि मनुष्य को भक्तियोग की मूल महत्ता को समझना चाहिए। सारे जीव अपने-अपने कर्मों तथा फलों के अनुसार विविध योनियों में विभिन्न प्रकार का बन्धनों को भोग रहे हैं। किन्तु विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के दौरान जिस व्यक्ति की भक्ति तक थोड़ी भी पैठ हो जाती है, वह भगवान् तथा गुरु की अहैतुकी कृपा से भगवान् की सेवा की महत्ता को समझ सकता है। भगवान् निष्ठावान् व्यक्ति की सहायता गुरु की भेंट कराकर करते हैं, जो भगवान् का ही प्रतिनिधि होता है। ऐसे गुरु के उपदेश से मनुष्य को भक्तियोग का बीज प्राप्त होता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि भक्त अपने हृदय में भक्ति का बीज बोये और भगवान् के पवित्र नाम तथा महिमा के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा उसे सींचकर पल्लवित करे। अपराधरहित होकर भगवान् के पवित्र नाम के श्रवण तथा कीर्तन की यह सरल विधि धीरे-धीरे मनुष्य को मोक्ष की अवस्था तक पहुँचा देगी। भगवान् के पवित्र नाम-कीर्तन की तीन अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है भगवन्नाम का सापराध कीर्तन करना, दूसरी अवस्था है पवित्र नाम के कीर्तन की आभास अवस्था और तीसरी अवस्था है अपराधरहित भगवन्नाम का कीर्तन। दूसरी अवस्था में ही, जो कि सापराध तथा निरपराध के बीच की अवस्था है, मनुष्य स्वतः मोक्ष की अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस निरपराध अवस्था में ही मनुष्य वास्तव में भगवद्धाम में प्रवेश करता है, यद्यपि शारीरिक रूप से वह भौतिक जगत में ही रहता है। निरपराध अवस्था प्राप्त करने के लिए उसे निम्नलिखित प्रकार से सतर्क रहना होगा।

जब हम श्रवण तथा कीर्तन की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल भगवान् के—राम-कृष्ण नामों के—कीर्तन तथा श्रवण (या सोलह नामों—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का क्रमबद्ध कीर्तन) से ही नहीं होता, अपितु भक्तों की संगति में रहकर *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* को पढ़ना और सुनना भी इसमें सम्मिलित रहता है। भक्तियोग के

प्रारम्भिक अभ्यास से हृदय में पहले से बोया हुआ बीज अंकुरित हो उठेगा और, जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है, नियमित सिंचाई करने से भक्तियोग की लता बढ़ने लगेगी। ठीक से पालन-पोषण करने से यह लता इस हद तक बढ़ जायेगी कि यह ब्रह्माण्ड के आवरणों को भेद करके, जैसाकि हमने पिछले श्लोकों में सुना है, तेजवान आकाश या ब्रह्मज्योति तक पहुँच जायेगी और आगे बढ़ती हुई असंख्य वैकुण्ठ लोकों तक चली जायेगी। इन लोकों के आगे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन है जहाँ यह लता प्रविष्ट होकर आदि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करती है। जब मनुष्य गोलोक वृन्दावन स्थित भगवान् के चरणकमलों तक पहुँच जाता है, तो श्रवण तथा वाचन की सिंचन विधि तथा पवित्र नाम की कीर्तन विधि फलीभूत होती है और भगवत्प्रेम रूपी जो फल लगते हैं, वे भक्तों द्वारा आस्वाद्य होते हैं, भले ही वे इस लोक में रह रहे होते हैं। भगवत्प्रेम रूपी पक्व फल का आस्वादन वे ही भक्त कर पाते हैं, जो निरन्तर सिंचन कार्यों में लगे रहते हैं जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। लेकिन इस काम में लगे भक्त को सदैव सचेष्ट रहना चाहिए जिससे वह लता जो इतनी बड़ी हुई है छिन्न-भिन्न न हो जाय। अतएव उसे निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होगा।

(१) शुद्ध भक्त के चरणों पर किये गये अपराध की तुलना उस प्रमत्त हाथी से की जा सकती है, जो अत्यन्त सुन्दर उद्यान में घुस जाने पर उसे विनष्ट कर देता है।

(२) मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों के चरणों पर ऐसे अपराध न करने के लिए अपने को सावधान रखे जिस प्रकार मनुष्य एक लता की रक्षा चारों ओर बाड़ बनाकर करता है।

(३) ऐसा हो सकता है कि सिंचाई के कारण कुछ खर-पतवार भी उग आयें, अतः जब तक ऐसे खर-पतवार को समूल नष्ट न कर दिया जाय तब तक मुख्य लता या भक्ति योग की लता की वृद्धि अवरुद्ध हो सकती है।

(४) वास्तव में ये खर-पतवार हैं—भौतिक भोग, आत्मा को ब्रह्म में पृथक् अस्तित्व के बिना लीन करना तथा धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के क्षेत्र में अन्य अनेक सांसारिक इच्छाएँ।

(५) अन्य खर-पतवार भी हैं—यथा शास्त्रों के नियमों का उल्लंघन, वृथा की व्यस्तताएँ, पशु हत्या तथा भौतिक लाभ, प्रतिष्ठा एवं सम्मान की लालसा।

(६) यदि पर्याप्त सावधानी नहीं बरती जाती तो सिंचाई से केवल खर-पतवारों की वृद्धि होगी, स्वस्थ लता ठिगनी रह जायेगी जिससे उसमें भगवत्प्रेम रूपी फल नहीं लग पायेंगे।

(७) अतएव भक्त को चाहिए कि प्रारम्भ में ही विभिन्न खर-पतवारों को समूल नष्ट कर दे। तभी मुख्य लता का स्वस्थ विकास हो सकेगा और वह ठिगनी नहीं रहेगी।

(८) ऐसा करने पर भक्त को भगवत्प्रेम-रूपी फल चखने को मिलता है और वह अपने इसी जीवन में भगवान् कृष्ण के साथ रह सकता है तथा पग-पग पर भगवान् के दर्शन कर सकता है।

जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है भगवान् की सतत संगति में जीवन का निरन्तर सुख भोगना और जिसने इसका स्वाद चख लिया है, वह किसी और तरीके से भौतिक जगत के किसी क्षणिक भोग की कामना नहीं करता।

तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-

मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।

एतां गतिं भागवतीं गतो यः

स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस शुद्ध; आत्मना—आत्मा द्वारा; आत्मानम्—परमात्मा को; उपैति—प्राप्त करता है; शान्तम्—शान्त; आनन्दम्—प्रसन्नता; आनन्द-मयः—स्वाभाविक रूप से ऐसा होने पर; अवसाने—सारे भौतिक कल्मष से रहित होकर; एताम्—ऐसा; गतिम्—गन्तव्य; भागवतीम्—भक्तिमयी; गतः—द्वारा प्राप्त; यः—जो व्यक्ति; सः—वह; वै—निश्चय ही; पुनः—फिर; न—कभी नहीं; इह—इस जगत में; विषज्जते—आकृष्ट होता है; अङ्ग—हे महाराज परीक्षित।

केवल विशुद्धात्मा ही भगवान् की संगति की पूर्णता अपनी स्वाभाविक स्थिति में परि-पूर्ण आनन्द तथा तुष्टि के साथ प्राप्त कर सकता है। जो कोई भी ऐसी भक्तिमयी पूर्णता को पुनः जागृत करने में समर्थ होता है, वह इस भौतिक जगत के प्रति फिर से आकृष्ट नहीं होता और इसमें लौटकर कभी नहीं आता।

तात्पर्य : इस श्लोक में गतिं भागवतीम् का वर्णन ध्यान देने योग्य है। ब्रह्मवादी-निर्विशेषवादी द्वारा इच्छित परब्रह्म भगवान् की किरणों से तादात्म्य भागवतीम् पूर्णता नहीं है। भागवतजन कभी भी भगवान् की निर्विशेष किरणों में लीन होना नहीं चाहते। वे तो सदैव ही आध्यात्मिक आकाश में किसी एक वैकुण्ठ लोक में परमेश्वर की संगति के लिए आकांक्षा करते हैं। सम्पूर्ण आध्यात्मिक आकाश

असंख्य वैकुण्ठ लोकों से भरा पड़ा है और भौतिक आकाश तो इस आध्यात्मिक आकाश का एक नगण्य अंश मात्र है। *भागवत* (भक्त) का लक्ष्य किसी एक वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करना होता है जिनमें से प्रत्येक में भगवान् अपने असीम साकार अंशों के रूप में असंख्य शुद्ध भक्त पार्षदों की संगति का आनन्द भोगते रहते हैं। इस भौतिक जगत में बद्धजीवों को भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर इन लोकों में भेज दिया जाता है। किन्तु नित्य मुक्त आत्माओं की संख्या इस जगत के बद्धजीवों से कहीं अधिक रहती है और वैकुण्ठ लोक वासी नित्यमुक्त आत्माएँ इस दुखी भौतिक जगत में आना कभी भी पसन्द नहीं करतीं।

परमेश्वर की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होने के इच्छुक निर्विशेषवादियों को भगवान् के साकार रूप की प्रेमाभक्ति की कोई धारणा नहीं होती। उनकी तुलना उन मछलियों से की जा सकती है, जो नदियों तथा नालों में उत्पन्न होकर महासागर में प्रवास के लिए चली जाती हैं। वे बहुत काल तक महासागर में नहीं रह सकतीं, क्योंकि इन्द्रिय तृप्ति की उनकी इच्छा उन्हें पुनः नदियों-नालों में वापस ला देती है। इसी प्रकार जब भौतिकतावादी सीमित जगत में भोग करने के अपने प्रयत्नों में विफल होता है, तो वह या तो कारणार्णव में लीन होकर या निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में लीन होकर निर्विशेष मोक्ष की खोज करता है। किन्तु न तो कारणार्णव और न ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति इन्द्रियों की संगति तथा व्यस्तता के लिए श्रेष्ठ विकल्प प्रस्तुत कर पाते हैं, फलतः निर्विशेषवादी एक बार फिर इन्द्रिय-तृप्ति की अतृप्त कामना में भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के चक्र में फँस जाता है। किन्तु कोई भी भक्त जो अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाकर भगवद्धाम में प्रवेश करता है और वहाँ पर मुक्तात्माओं तथा भगवान् की संगति करता है। वह भौतिक जगत की सीमित चाहारदीवारियों की ओर कभी आकृष्ट नहीं होता।

*भगवद्गीता* (८.१५) में भी इसी की पुष्टि की गई है, जैसाकि भगवान् कहते हैं “बड़े-बड़े महात्मागण या भक्तियोगी मेरी संगति प्राप्त करने के बाद इस दुःखमय तथा अस्थायी जगत में फिर कभी वापस नहीं आते।” अतएव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि भगवान् की संगति प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् की सेवा में लगा रहने के कारण, भक्तियोगी को, ज्ञान या योग जैसी अन्य मोक्ष

की विधि के लिए कोई आकर्षण नहीं होता। शुद्ध भक्त शत प्रतिशत भगवान् का भक्त होता है, अन्य कुछ भी नहीं।

इस श्लोक के अन्य दो शब्दों *शान्तम्* तथा *आनन्दम्* पर भी हमें ध्यान देना होगा, क्योंकि ये बोध कराते हैं कि भगवद्भक्ति भक्त को वास्तव में दो महत्त्वपूर्ण वर देनेवाली है। ये हैं—शान्ति तथा तुष्टि। निर्विशेषवादी ब्रह्म से एकाकार होने का इच्छुक रहता है या दूसरे शब्दों में, वह ब्रह्म बनना चाहता है। यह कोरी कल्पना है। योगी विविध प्रकार की योगशक्तियों से ऊब उठता है, जिसके कारण उसे न तो शान्ति मिलती है, न सन्तोष। अतएव न तो निर्विशेषवादी, न ही योगी को वास्तविक शान्ति तथा सन्तोष मिल पाता है, किन्तु भक्त पूर्ण रूप से शान्त तथा सन्तुष्ट रह सकता है क्योंकि उसकी संगति पूर्ण ब्रह्म से रहती है। अतएव ब्रह्म में लीन होने या कतिपय योग-शक्तियों की उपलब्धि में भक्त को कोई आकर्षण नहीं रहता।

ईश-प्रेम की प्राप्ति का अर्थ है अन्य समस्त आकर्षणों से पूर्ण मुक्ति। बद्धजीव अनेक इच्छाएँ करता है—जैसे धार्मिक व्यक्ति बनना, धनी बनना, प्रथम कोटि का भोक्ता होना, या स्वयं ईश्वर होना या योगी आदि की भाँति शक्तिशाली बनना और कुछ भी पा कर या करके आश्चर्यजनकरूप से कार्य करना। ये समस्त महत्वाकांक्षाएँ उस भावी भक्त द्वारा टुकरा दी जानी चाहिए जो अपने सुप्त भगवत्प्रेम को पुनः जागृत करना चाहता है। अशुद्ध भक्त भक्ति सम्पन्न करके उपर्युक्त सारी भौतिक वस्तुओं की कामना करता है, किन्तु शुद्ध भक्त में उपर्युक्त कल्मष लेशमात्र भी नहीं रहते। इनमें भौतिक इच्छाएँ, निर्विशेष का चिन्तन तथा योग शक्तियों की प्राप्ति सम्मिलित हैं। शुद्ध भक्ति-मय सेवा के द्वारा अपने वांछनीय उद्देश्य अर्थात् भगवान् के लिए मनुष्य भगवत्प्रेम की स्थिति प्राप्त कर सकता है।

यदि हम अधिक स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि यदि कोई भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे भौतिक भोग की सारी इच्छाओं का परित्याग कर देना चाहिए, उसे किसी भी देवता की पूजा से दूर रहना चाहिए और उसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा में लगे रहना चाहिए। उसे भगवान् से तदाकार होने के मूर्खतापूर्ण विचार का परित्याग कर देना चाहिए और संसार में प्रतिष्ठा पाने के लिए आश्चर्यजनक शक्तियों को प्राप्त करने की इच्छा त्याग देनी चाहिए। शुद्ध भक्त किसी



पारिश्रमिक की आशा न करके भगवान् की सेवा में ही लगा रहता है। इससे भगवत्प्रेम प्राप्त होगा या, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, शान्तम् तथा आनन्दम् की स्थिति प्राप्त हो सकेगी।

एते सृती ते नृप वेद-गीते  
 त्वयाभिपृष्टे च सनातने च ।  
 ये वै पुरा ब्रह्मण आह तुष्ट  
 आराधितो भगवान् वासुदेवः ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

एते—ये सब, जिनका वर्णन किया गया; सृती—मार्ग; ते—तुम तक; नृप—हे महाराज परीक्षित; वेद-गीते—वेदों के कथनानुसार; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिपृष्टे—ठीक से पूछे जाने पर; च—भी; सनातने—नित्य सत्य के मामले में; च—सचमुच; ये—जो; वै—निश्चय ही; पुरा—पहले; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी से; आह—कहा; तुष्टः—सन्तुष्ट होकर; आराधितः—पूजित होकर; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—भगवान् कृष्ण ने।

हे महाराज परीक्षित, आप इतना जान लें कि मैंने आपकी समुचित जिज्ञासा के प्रति जो भी वर्णन किया है, वह वेदों के कथनानुसार है और वही नित्य सत्य है। इसे साक्षात् भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा से कहा था, क्योंकि वे ब्रह्मा द्वारा समुचित रूप से पूजे जाने पर उनसे प्रसन्न थे।

तात्पर्य : परव्योम तक पहुँचने और फिर समस्त भौतिक बन्धन से मोक्ष पाने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं—या तो भगवद्धाम पहुँचने का सीधा मार्ग (सद्यःयुक्ति) या अन्य उच्चलोकों से होकर धीरे-धीरे पहुँचने की क्रमिक विधि (क्रमयुक्ति)। ये वेदों के कथनानुसार यहाँ पर प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रसंग में वैदिक कथन इस प्रकार हैं—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते (बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.७) तथा तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति (बृहदारण्यक उपनिषद् ६.२.१५) : “जो हृदयरोग तुल्य समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, वे मृत्यु को जीतने में समर्थ हैं और अर्चिलोक से होकर भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं।” ये वैदिक कथन श्रीमद्भागवत के कथन का समर्थन करनेवाले हैं और इनकी पुष्टि शुकदेव गोस्वामी द्वारा की जा रही है, जो जोर देकर यह कहते हैं कि इस सत्य का उद्घाटन वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण ने वेदों के प्रथम प्रमाण ब्रह्माजी से किया।

शिष्य-परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा को वेद सुनाया, ब्रह्मा ने नारद को और नारद ने व्यासदेव को। तब व्यास ने शुकदेव गोस्वामी को यही ज्ञान दिया और इसी प्रकार आगे चलता रहा। इस तरह इन समस्त प्राधिकृत पुरुषों के कथनों में कोई अन्तर नहीं है। चूँकि सत्य नित्य है,

अतएव सत्य के विषय में कोई नवीन मत नहीं हो सकता। वेदों में निहित ज्ञान को जानने का यही साधन है। इसे न तो प्रकाण्ड पाण्डित्य द्वारा समझा जा सकता है, न संसारी पंडितों की फैशनपरस्त व्याख्याओं द्वारा। इसमें न कुछ जोड़ने को है, न घटाने को, क्योंकि सत्य तो सत्य है। किन्तु अन्ततः किसी न किसी प्रमाण को स्वीकार करना होता है। आधुनिक विज्ञानी भी कतिपय वैज्ञानिक सत्यों के लिए सामान्य व्यक्तियों के हेतु प्रमाणतुल्य हैं। सामान्य व्यक्ति विज्ञानी के कथन का पालन करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य व्यक्ति प्रमाण का अनुगमन करता है। वैदिक ज्ञान भी इसी रीति से प्राप्त किया जाता है। सामान्य व्यक्ति यह तर्क नहीं कर सकता कि आकाश या ब्रह्माण्ड के परे क्या है; उसे चाहिए कि वह वेदों के कथनों को उसी तरह स्वीकार करे जिस तरह वे प्रामाणिक शिष्य-परम्परा द्वारा स्वीकृत किये जाते रहे हैं। *भगवद्गीता* में भी चतुर्थ अध्याय में, गीता को समझने की यही विधि बताई गई है। यदि कोई आचार्यों के प्रामाणिक कथन को नहीं मानता, तो वेदों में वर्णित सत्य की उसकी खोज व्यर्थ ही होगी।

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।

वासुदेवे भगवति भक्ति-योगो यतो भवेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अतः—इसके परे; अन्यः—अन्य कुछ; शिवः—कल्याणप्रद; पन्थाः—साधन; विशतः—भटकते हुए; संसृता—भौतिक जगत में; इह—इस जीवन में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव कृष्ण में; भगवति—भगवान्; भक्ति-योगः—प्रत्यक्ष भक्ति; यतः—जहाँ; भवेत्—ऐसा हो।

जो लोग भौतिक विश्व में भटक रहे हैं, उनके लिए भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष भक्ति से बढ़कर मोक्ष का कोई अधिक कल्याणकर साधन नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक से स्पष्ट हो जायेगा, भक्ति या प्रत्यक्ष भक्तियोग ही भवबन्धन से उद्धार का एकमात्र पूर्ण एवं कल्याणप्रद साधन है। भवबन्धन से उद्धार पाने के अनेक अप्रत्यक्ष उपाय हैं, लेकिन इनमें से कोई भी भक्तियोग के समान सरल तथा कल्याणप्रद नहीं है। ज्ञान तथा योग के साधन एवं अन्य सम्बद्ध विधाएँ कर्ता का उद्धार करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं। ऐसे कार्यों से मनुष्य अनेकानेक वर्षों बाद भक्तियोग की अवस्था को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि जो लोग ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप के प्रति आसक्त रहते हैं, उन्हें अपने इच्छित लक्ष्य तक पहुँचने में

अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं और परम सत्य की खोज करनेवाले ज्ञानी अनेकानेक जन्मों के बाद वासुदेव-अनुभूति की महत्ता को समझ पाते हैं (भगवद्गीता ७.१९)। जहाँ तक योग पद्धति का सम्बन्ध है, भगवद्गीता (६.४७) में यह भी कहा गया है कि योगियों में जो योगी परम सत्य का अनुगमन करता है और जो भगवान् की सेवा में सतत लगा रहता है, वह योगियों में सर्वोच्च है। भगवद्गीता (१८.६६) का अन्तिम उपदेश है कि आत्म-साक्षात्कार तथा भवबन्धन से मोक्ष की विभिन्न विधियों या अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भगवान् की शरण में आओ। मनुष्य को सभी प्रकार से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना ही समस्त वैदिक ग्रंथों का तात्पर्य है।

जैसाकि श्रीमद्भागवत के उद्धरणों में (प्रथम स्कन्ध में) बताया जा चुका है, या तो प्रत्यक्ष भक्तियोग या वे सारे साधन ही जिनका पर्यवसान भक्तियोग में होता है, धर्म के सर्वोच्च रूप हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ कर्ता के समय का अपव्यय मात्र है।

श्रील श्रीधर स्वामी तथा जीव गोस्वामी जैसे अन्य सारे आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि भक्तियोग सरल, सहज, प्राकृतिक तथा चिन्तामुक्त होने के साथ ही मानवमात्र के सुख का एकमात्र स्रोत है।

**भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।**

**तदध्यवस्यत् कूट-स्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥ ३४ ॥**

**शब्दार्थ**

भगवान्—महापुरुष ब्रह्माजी ने; ब्रह्म—वेद; कात्स्न्येन—संक्षिप्तीकरण द्वारा; त्रिः—तीन बार; अन्वीक्ष्य—परीक्षा करके; मनीषया—अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक; तत्—वह; अध्यवस्यत्—निश्चित किया; कूट-स्थः—मन की एकाग्रता से; रतिः—आकर्षण; आत्मन् ( आत्मनि )—भगवान् श्रीकृष्ण में; यतः—जिसके द्वारा; भवेत्—ऐसा होता है।

महापुरुष ब्रह्मा ने अत्यन्त मनोयोग से वेदों का तीन बार अध्ययन किया और उनकी भलीभाँति संवीक्षा कर लेने के बाद, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण ( रति ) ही धर्म की सर्वोच्च सिद्धि है।

**तात्पर्य :** श्री शुकदेव गोस्वामी वेदों के परम प्रमाण, ब्रह्मा, का उल्लेख कर रहे हैं, जो भगवान् के गुणावतार हैं। भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में ही ब्रह्माजी को वेदों की शिक्षा दी गई। यद्यपि ब्रह्माजी ने साक्षात् भगवान् से वैदिक उपदेशों का श्रवण किया, लेकिन वेदों के भावी जिज्ञासुओं की उत्सुकता को तुष्ट करने के लिए ही ब्रह्माजी ने, एक जिज्ञासु की तरह, वेदों का तीन बार अध्ययन किया जैसाकि सारे

जिज्ञासु करते हैं। उन्होंने बड़े मनोयोग से अध्ययन किया और वेदों के प्रयोजन पर भी मन को केन्द्रित रखा और सारी विधि की सम्यक् परीक्षण करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्ध अनन्य भक्त बनना ही समस्त धार्मिक सिद्धान्तों की सर्वोच्च सिद्धि है। *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश भी यही है, जिसे स्वयं भगवान् ने दिया। इस प्रकार वैदिक निर्णय सभी आचार्यों द्वारा मान्य है और जो इस निर्णय के विरुद्ध हैं, वे वेदवादरत हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४२) में कहा गया है।

**भगवान् सर्व-भूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ।**

**दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥ ३५ ॥**

**शब्दार्थ**

भगवान्—भगवान्; सर्व—समस्त; भूतेषु—सारे जीवों में; लक्षितः—देखे जाते हैं; स्व-आत्मना—आत्मा सहित; हरिः—भगवान्; दृश्यैः—देखे जाने के द्वारा; बुद्धि-आदिभिः—बुद्धि के द्वारा; द्रष्टा—देखने वाला; लक्षणैः—विभिन्न लक्षणों से; अनुमापकैः—परिकल्पना द्वारा।

आत्मा के साथ भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक जीव में हैं। यह तथ्य हमारे देखने से तथा बुद्धि से सहायता लेने पर अनुभूत तथा परिकल्पित होता है।

**तात्पर्य :** जनसामान्य का यह आम तर्क है कि चूँकि भगवान् हमारी आँखों को नहीं दिखते तो फिर कोई किस तरह उनकी शरण में जाय या उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति करे? ऐसे जनसामान्य के लिए यहाँ पर श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा व्यावहारिक सुझाव दिया गया है कि मनुष्य तर्क तथा अनुभूति द्वारा किस तरह परमेश्वर का दर्शन पा सकता है। वास्तव में, भगवान् हमारी वर्तमान भौतिक इन्द्रियों द्वारा देखे नहीं जा सकते, किन्तु जब कोई व्यावहारिक सेवा-भाव से भगवान् की उपस्थिति के बारे में आश्वस्त हो लेता है, तो भगवत्कृपा से उनका प्राकट्य होता है और भगवान् का ऐसा शुद्ध भक्त सदैव तथा प्रत्येक स्थान में भगवान् का दर्शन कर सकता है। वह यह अनुभव कर सकता है कि बुद्धि भगवान् के पूर्ण अंश परमात्मा का रूप-निर्देशन है। सामान्य व्यक्ति के लिए भी यह अनुभव कर सकना कि परमात्मा जन-जन के साथ हैं कठिन नहीं है। इसकी विधि इस प्रकार है—मनुष्य आत्म-पहचान का अनुभव करे और सकारात्मक रूप से ऐसा अनुभव करे कि वह विद्यमान है। उसे यह एकाएक नहीं, अपितु थोड़ी बुद्धि लगाने पर अनुभव होगा कि वह शरीर नहीं है। उसे अनुभव होगा कि हाथ, पाँव, सिर, बाल तथा अंग-प्रत्यंग उसके शरीर के अंश हैं, किन्तु हाथ पाँव, सिर इत्यादि से उसके आत्मस्वरूप की

पहचान नहीं हो सकती। अतएव अपनी बुद्धि से वह अपनी आत्मा को अन्य दृश्य वस्तुओं से अन्तर करके, उन्हें विलग कर सकता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जीव, चाहे मनुष्य हो या पशु, वह द्रष्टा है और वह अपने अतिरिक्त सबों को देख सकता है। अतएव द्रष्टा तथा दृश्य में अन्तर होता है। अब थोड़ी बुद्धि लगाने पर, हम यह मान सकते हैं कि जो जीव अपने से दूर वस्तुओं को साधारण दृष्टि से देखता है, वह स्वतन्त्र रूप से देख या चल नहीं सकता। हमारे सारे कार्य तथा अनुभूतियाँ उन विभिन्न शक्तियों पर निर्भर हैं, जो हमें प्रकृति द्वारा विभिन्न संयोगों के रूप में प्रदान की जाती हैं। हमारी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, हमें प्राकृतिक शक्ति के स्थूल या सूक्ष्म रूपों, में हमें प्राप्त होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रवण (२) स्पर्श (३) दर्शन (४) स्वाद तथा (५) गंध। इसी तरह कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं—(१) हाथ (२) पाँव (३) वाणी (४) मल निकासी अंग; तथा (५) जननेन्द्रियाँ। हमारी तीन सूक्ष्म इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं—(१) मन (२) बुद्धि; तथा (३) अहंकार। (कुल मिलाकर तेरह इन्द्रियाँ हैं)। यह भी समान रूप से स्पष्ट है कि हमारे अनुभव के विषय (वस्तुएँ) प्राकृतिक शक्ति के असीम संयोग के प्रतिफल हैं। चूँकि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सामान्य जीव अनुभव या गति के मामले में स्वतन्त्र नहीं है और हमारा अस्तित्व प्रकृति की शक्ति द्वारा प्रतिबन्धित है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो देखता है (द्रष्टा), वह आत्मा है तथा हमारी समस्त इन्द्रियाँ एवं अनुभव के विषय भौतिक हैं। द्रष्टा का आध्यात्मिक गुण हमारी भौतिक बद्धावस्था की सीमित स्थिति के साथ हमारे असंतोष द्वारा परिलक्षित होता है। आत्मा तथा पदार्थ का यही अन्तर है। कुछ अल्पज्ञ तर्क करते हैं कि भौतिक पदार्थ से देखने तथा चलने की शक्ति विकसित होती है, किन्तु ऐसा तर्क स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा प्रयोगात्मक साक्ष्य प्राप्त नहीं है, जिसमें पदार्थ से कहीं भी जीव उत्पन्न हुआ हो। भविष्य कितना ही आकर्षक क्यों न हो, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। भौतिक तत्त्वों से आत्मा के विकास की बात व्यर्थ व मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि आज तक विश्व में कहीं भी पदार्थ में देखने तथा गति करने की शक्ति विकसित नहीं हुई। अतएव यह निश्चित है कि पदार्थ तथा आत्मा दो पृथक् सत्ताएँ हैं और बुद्धि द्वारा इस निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। अब हम इस बात पर आते हैं कि जो वस्तुएँ थोड़ी बुद्धि लगाने पर दिखती हैं, वे

चलित नहीं हो सकतीं जब तक कि हम किसी को बुद्धि का प्रयोगकर्ता या निर्देशक स्वीकार न कर लें। बुद्धि उसी प्रकार निर्देश करती है, जिस प्रकार उच्च अधिकारी निर्देश देता है और बुद्धि का प्रयोग किये बिना जीव न तो देख सकता है, न हिल-डुल सकता है, न खा सकता है और न कोई कार्य ही कर सकता है। जब मनुष्य बुद्धि का उपयोग नहीं कर पाता तो वह बेसुध बन जाता है, अतएव जीव बुद्धि पर अथवा किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के निर्देशन पर निर्भर रहता है। ऐसी बुद्धि सर्वव्यापी है। प्रत्येक जीव में बुद्धि होती है और यह बुद्धि, किसी श्रेष्ठतर अधिकारी का निर्देशन होने के कारण, उस पिता के तुल्य है, जो अपने पुत्र को मार्गनिर्देश देता रहता है। यह उच्च अधिकारी परमात्मा हैं, जो प्रत्येक जीव में उपस्थित रहकर उसके भीतर वास कर रहा हैं।

अपनी खोज के सिलसिले में यहाँ हम निम्नलिखित प्रश्न पर विचार कर सकते हैं: एक ओर हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सारी अनुभूतियाँ तथा कार्य प्रकृति की व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित हैं, तो भी हम ऐसा अनुभव करते हैं और कहते हैं “मैं देख रहा हूँ” या “मैं कर रहा हूँ”। अतएव हम कह सकते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ गतिशील हैं, क्योंकि हम अपनी पहचान भौतिक शरीर के रूप में कर रहे हैं और परमात्मा हमारी इच्छानुसार हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं तथा हमारी इच्छा के अनुसार हमें फल दे रहे हैं। बुद्धि के रूप में परमात्मा के मार्गदर्शन का लाभ उठाकर, हम यह अध्ययन करते रहते हैं और अपने निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, “मैं शरीर नहीं हूँ” या हम झूठी पहचान करते रह सकते हैं और अपने को ही स्वामी तथा कर्ता मानते रह सकते हैं। हमारी स्वतन्त्रता इतनी ही है कि हम अपनी इच्छा को अज्ञान, भौतिक भ्रान्त धारणाओं की ओर, या सही आध्यात्मिक धारणाओं की ओर ले जाँय। हम परमात्मा को अपना मित्र तथा मार्गदर्शक मानकर तथा उसी पर अपनी बुद्धि लगाकर, असली आध्यात्मिक धारणा प्राप्त कर सकते हैं। परमात्मा तथा आत्मा दोनों ही आत्मा हैं, अतएव दोनों के गुण एक से हैं और वे पदार्थ से भिन्न हैं। लेकिन परमात्मा तथा आत्मा समान स्तर पर नहीं हो सकते, क्योंकि परमात्मा निर्देश देता है या बुद्धि प्रदान करता है और आत्मा उस निर्देश का पालन करता है, जिससे सही ढंग से कार्य सम्पन्न होते हैं। व्यक्ति पूर्ण रूप से परमात्मा के निर्देश पर आश्रित रहता है, क्योंकि देखने, सुनने, सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा करने इत्यादि में, वह पद-पद पर परमात्मा

के निर्देश का पालन करता है।

जहाँ तक सामान्य ज्ञान का प्रश्न है, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तीन प्रकार की सत्ताएँ हैं—पदार्थ, आत्मा तथा परमात्मा। अब यदि हम *भगवद्गीता* या वैदिक ज्ञान में प्रवेश करें, तो हम यह भी समझ सकेंगे कि ये तीनों सत्ताएँ पूर्ण पुरुषोत्तमभगवान् पर आश्रित हैं। परमात्मा तो भगवान् की आंशिक अभिव्यक्ति है। *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि भगवान् अपनी आंशिक अभिव्यक्ति से ही सारे भौतिक जगत में आधिपत्य बनाए हुए हैं। ईश्वर महान् हैं और वे जीवात्मा के आज्ञापालक मात्र नहीं हो सकते। अतएव परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकता। जीवात्मा द्वारा परमात्मा की अनुभूति किया जाना आत्म-साक्षात्कार का शुभारम्भ है और इस आत्म-साक्षात्कार की प्रगति होने से मनुष्य बुद्धि द्वारा, मान्य शास्त्रों द्वारा तथा मुख्यतया भगवत्कृपा द्वारा भगवान् की अनुभूति कर पाने में सक्षम होता है। *भगवद्गीता* भगवान् श्रीकृष्ण की प्रारम्भिक अव-धारणा है और *श्रीमद्भागवत* उसके आगे ईश-विज्ञान की व्याख्या है। अतएव यदि हम अपने संकल्प में दृढ़ रहें तथा उसी शरीर-रूपी वृक्ष में आसीन बुद्धि के निर्देशक के कृपा की याचना करें, जो पक्षी रूप में अन्य पक्षी के साथ आसीन है (जैसाकि उपनिषदों में कहा गया है) तो वेदों में दी गई सूचनाएँ हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाएँगी और तब भगवान् वासुदेव को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति बुद्धि के ऐसे उपयोग से अनेक जन्मों के बाद भी वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में पुष्टि हुई है।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवानृणाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; सर्व—सभी; आत्मना—आत्मा; राजन्—हे राजा; हरिः—भगवान्; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वदा—सदैव; श्रोतव्यः—सुना जाना चाहिए; कीर्तितव्यः—गुणगान किया जाना चाहिए; च—भी; स्मर्तव्यः—स्मरण किया जाना चाहिए; भगवान्—भगवान्; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा।

हे राजन्, अतएव यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य सर्वत्र तथा सदैव भगवान् का श्रवण करे, गुणगान करे तथा स्मरण करे।

तात्पर्य : श्री शुकदेव गोस्वामी इस श्लोक को *तस्मात्* अर्थात् अतएव से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि

वे पिछले श्लोक में बता चुके हैं कि भक्तियोग की भव्य विधि के अतिरिक्त मोक्ष का कोई शुभ उपाय नहीं है। भक्तों द्वारा विभिन्न विधियों यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवदेन से भक्तियोग का अभ्यास किया जाता है। ये नवों प्रामाणिक विधियाँ हैं और निष्ठावान भक्त इनमें से सभी या कुछ या केवल एक विधि द्वारा वांछित फल पा सकता है। किन्तु इनमें से पहली विधि अर्थात् श्रवण विधि भक्तियोग में सर्व-प्रमुख है। पर्याप्त तथा समुचित विधि से श्रवण किये बिना, अन्य विधियों के अभ्यास से कोई प्रगति नहीं हो पाती और केवल श्रवण के लिए तो समूचा वैदिक वाङ्मय भरा पड़ा है, जिसे व्यासदेव जैसे भगवान् के शक्त्यावेश अवतार ने संकलित किया है। चूँकि यह सुनिश्चित हो चुका है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के परमात्मा हैं, अतएव उनका श्रवण तथा कीर्तन सर्वत्र एवं सदैव होना चाहिए। यह मनुष्य का विशिष्ट कर्तव्य है। जब मनुष्य सर्वव्यापी भगवान् के विषय में सुनना बन्द कर देता है, तो वह मानवनिर्मित यन्त्रों द्वारा प्रसारित कूड़ा-करकट सुनने का अभ्यस्त बन जाता है। कोई यन्त्र बुरा नहीं है, क्योंकि यन्त्र से मनुष्य भगवान् के विषय में सुन सकता है, किन्तु प्रच्छन्न कार्यों के लिए प्रयुक्त होने से यन्त्र मानव सभ्यता के स्तर में त्वरित हास ला रहा है। यहाँ पर यह कहा गया है कि मनुष्य को सुनना अनिवार्य है, क्योंकि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रंथ इसी उद्देश्य से लिखे गये हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य कोई सजीव प्राणी ऐसे वैदिक ग्रंथों का श्रवण नहीं कर सकता। यदि मानव समाज वैदिक साहित्य का श्रवण करे तो वह उन अपवित्र व्यक्तियों द्वारा उच्चरित अपवित्र शब्द-ध्वनि को नहीं सुन पायेगा, जो पूरे समाज के स्तर को गिराने वाले हैं। श्रवण की पुष्टि कीर्तन द्वारा होती है। जो व्यक्ति उचित स्रोत से सुनता है, वह सर्वव्यापी भगवान् के विषय में आश्चस्त हो जाता है और तब वह भगवान् का गुणगान करने के लिए प्रोत्साहित होता है। सभी बड़े-बड़े आचार्यों ने, यथा रामानुज, मध्व, चैतन्य, सरस्वती ठाकुर ने, या कि अन्य देशों में मुहम्मद, ईसा तथा अन्यो ने, कीर्तन द्वारा सदैव तथा सर्वत्र भगवान् का यशोगान किया है। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव सर्वत्र तथा सदैव उनका गुणगान अनिवार्य है। भगवान् का गुणगान करने में देश तथा काल का बन्धन नहीं होना चाहिए। यही *सनातन धर्म* या *भागवत* धर्म कहलाता है। *सनातन* का अर्थ है शाश्वत, सदैव तथा सर्वत्र। *भागवत* का अर्थ है भगवान्



सम्बन्धी। भगवान् सारे देश-काल के स्वामी हैं, अतएव भगवान् के नाम का विश्व भर में श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण होना चाहिए। ऐसा करने से पूरे विश्व के लोगों द्वारा उत्पुक्तावश प्रतीक्षित व इच्छित शांति व वैभव का प्रादुर्भाव होगा। च शब्द भक्तियोग की अन्य विधियों को सम्मिलित करता है, जैसाकि ऊपर वर्णित है।

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां

कथामृतं श्रवण-पुटेषु सम्भृतम् ।

पुनन्ति ते विषय-विदूषिताशयं

व्रजन्ति तच्चरण-सरोरुहान्तिकम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पिबन्ति—पीते हैं; ये—जो; भगवतः—भगवान् का; आत्मनः—अत्यन्त प्रिय; सताम्—भक्तों के; कथा-अमृतम्—सन्देश-रूपी अमृत; श्रवण-पुटेषु—कान के छेदों के भीतर; सम्भृतम्—परिपूरित; पुनन्ति—पवित्र करते हैं; ते—उनके; विषय—भौतिक भोग; विदूषित-आशयम्—कलुषित जीवन लक्ष्य; व्रजन्ति—वापस जाते हैं; तत्—भगवान् के; चरण—चरण; सरोरुह-अन्तिकम्—कमल के निकट।

जो लोग भक्तों के अत्यन्त प्रिय भगवान् कृष्ण की अमृत-तुल्य कथा को कर्णरूपी पात्रों से भर-भर कर पीते हैं, वे भौतिक भोग के नाम से विख्यात दूषित जीवन-उद्देश्य को पवित्र कर लेते हैं और इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के चरणकमलों में भगवद्धाम को वापस जाते हैं। तात्पर्य : मानव समाज के सारे कष्ट दूषित जीवन-उद्देश्य अर्थात् भौतिक संसाधनों पर प्रभुत्व जताने के कारण हैं। मानव समाज अविकसित संसाधनों का जितना ही दोहन अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए करता है, वह उतना ही भगवान् की भ्रामक भौतिक शक्ति (माया) द्वारा बँधता जाता है और विश्व के कष्ट घटने के बजाय बढ़ते जाते हैं। भगवान् मानव जीवन की सारी आवश्यकताओं की यथा अन्न, दूध, फल, लकड़ी, पत्थर, चीनी, रेशम, रत्न, कपास, नमक, जल, तरकारी आदि की प्रचुर मात्रा में पूर्ति करता है, जिससे विश्व की मानव जाति के साथ ही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक के अन्य जीवों का भी भरण-पोषण हो सके। पूर्ति के सारे साधन हैं और सही प्रणाली से अपनी आवश्यकता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को थोड़ी सी शक्ति व्यय करने की आवश्यकता होती है। जीवन में कृत्रिम रूप से सुविधाएँ उत्पन्न करने के लिए यन्त्रों तथा औजारों या बड़े-बड़े इस्पात उद्योगों की आवश्यकता नहीं है। जीवन कभी कृत्रिम आवश्यकताओं द्वारा आरामदेह नहीं बनाया जा सकता; वह तो 'सादा जीवन

उच्च विचार' से ही आरामदेह बनता है। यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी ने मानव समाज के लिए उच्चतम चिन्तन का सुझाव दिया है—यह है श्रीमद्भागवत का ठीक से श्रवण करना। इस कलियुग के मनुष्यों ने जीवन की पूर्ण दृष्टि खो दी है और यह श्रीमद्भागवत उनके लिए टार्चलाइट के समान है, जिससे असली मार्ग देखा जा सकता है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद ने इस श्लोक में आये कथामृतम् की व्याख्या की है और यह संकेत किया है कि श्रीमद्भागवत भगवान् का अमृतमय संदेश है।

श्रीमद्भागवत के पर्याप्त श्रवण से जीवन के दूषित लक्ष्य, प्रकृति पर प्रभुता जताना शमित होगा और संसार भर के लोग ज्ञान तथा आनन्द के साथ शान्तिमय जीवन बिता सकेंगे।

शुद्ध भगवद्भक्त के लिए भगवान् के नाम, यश, गुण, पार्षद आदि से सम्बन्धित कोई भी कथा मोहक होती है और चूँकि ऐसी कथाओं का अनुमोदन नारद, हनुमान, नन्द महाराज तथा वृन्दावन के अन्य वासियों द्वारा हुआ है, अतएव ऐसे संदेश निश्चय ही दिव्य तथा हृदय एवं आत्मा को भानेवाले हैं।

यहाँ पर श्री शुकदेव गोस्वामी आश्वस्त करते हैं कि *भगवद्गीता* तथा उसके बाद *श्रीमद्भागवत* की कथाओं के निरन्तर सुनते रहने से मनुष्य भगवान् के पास पहुँचकर विशाल कमल-सदृश गोलोक वृन्दावन में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति कर सकेगा।

इस प्रकार इस श्लोक में बताई गई भक्तियोग की विधि को प्रत्यक्ष स्वीकार कर लेने से, अर्थात् भगवान् की दिव्य कथा के पर्याप्त श्रवण से, भगवान् के निर्विशेष विराट स्वरूप का चिन्तन किये बिना ही, मनुष्य का भौतिक कल्मष दूर हो जाता है। यदि अभ्यासकर्ता भक्तियोग का अभ्यास करने से भौतिक कल्मष से शुद्ध नहीं हो पाता, तो उसे छद्म भक्त समझना चाहिए। ऐसे पाखण्डी के लिए भवबन्धन से छूटने के लिए कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत “हृदय में भगवान्” नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।